राजकुमार

चीन
और
नेहरू

✤

राजकुमार

✤

सरस्वती पुस्तक भण्डार
१६५/१, हरिसन रोड, कलकत्ता

प्रकाशक

सरस्वती पुस्तक भण्डार,

१९५/१, हरिसन रोड,

कलकत्ता ।

प्रथम संस्करण

अगस्त, १९५५

मूल्य १।।।)

मुद्रक

दुर्गा प्रेस,

आदि-विश्वनाथ,

काशी ।

वक्तव्य

श्री राजकुमार की कृति '**अमेरिका में नेहरू**' का जिस गति से स्वागत हुआ वह हिंदी-जगत की गुण-ग्राहकता का प्रमाण है। पूर्व घोषणानानुसार **चीन और नेहरू** उपस्थित करते हुए हम यह भी घोषित कर रहे हैं कि '**नेहरू की रूस यात्रा**' भी प्रकाशित हो चुकी है। सर्वप्रथम इस क्षेत्र में सेवा का अवसर हमें मिला, यह और भी प्रसन्नता की बात है।

पं० नेहरू आज विश्व-मानव के रूप में विश्व में शांति-संस्थापन के लिए जो कार्य कर रहे हैं वह विश्व के जीवित इतिहास का सर्वाधिक दीप्त अध्याय है। नेहरू जी अमेरिका, चीन, यूरोप और रूस गये थे। सर्वत्र उन्हें वही धुन थी। उनके द्वारा की गयी यात्रा तथा वहाँ दिये गये भाषण सदैव स्थायी महत्त्व के रहेंगे।

राजनीतिक परिस्थितियों, मान्यताओं के आधाकारिक विवेचन तथा अभिव्यक्ति के क्षेत्र में श्री राजकुमार का अपना निजी स्थान है। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने उनकी यात्रा तथा उस यात्रा में घटनेवाली घटनाओं का सजीव चित्र उपस्थित किया है। साथ ही पाद टिप्पणियों द्वारा उन्होंने अनेक ज्ञातव्य तथ्यों का स्पष्टीकरण भी किया है। चित्रों द्वारा पुस्तक अलंकृत है।

नेहरू जी द्वारा चीन में किये गये प्रमुख ऐतिहासिक भाषणों तथा स्थायी महत्त्व के कागज-पत्रों को परिशिष्ट में पूर्ण रूप से देकर लेखक ने पुस्तक की उपादेयता तथा महत्ताको स्थायीत्व प्रदान किया है। निर्विवाद रूप से पुस्तक ऐतिहसिक महत्त्व की है।

—श्री कृष्णचन्द्र बेरी

इतिहास का प्रभाव

चीन के सम्बन्ध में भारत के प्रधान मंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू की भावनाओं को समझने के लिए एशिया के सम्बन्ध में उनके विचारों का अध्ययन करना होगा। एशिया के सम्बन्ध में उनकी भावनाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भारत के साथ एशिया के अन्य देशों के अति प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्धों की मधुर स्मृतियाँ ताजी करनी होंगी। इस क्रम में, भारत और चीन के इतिहास में, दोनों के सांस्कृतिक सम्बन्धों पर प्रभाव डालने वाले जो अध्याय खुलेंगे, उनके प्रति नेहरू जी की अनुरक्ति चीन के प्रति उनके आकर्षण को आप से आप स्पष्ट कर देंगी। चीन और भारत, दोनों महान् देश हैं। दोनों का सांस्कृतिक सम्बन्ध सदियों पुराना है। समय-समय पर एक ने दूसरे को अपने ज्ञानसे आलोकित किया है। ज्ञान-रश्मियों के इस आदान-प्रदान का नेहरू जी पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। वे इसका उल्लेख करते थकते नहीं हैं। यह बात उन्होंने न जाने कितनी बार दोहरायी होगी कि "हमारे दोनों मुल्कों के पुराने रिश्ते हजारों वर्ष के हैं और इन हजारों वर्षों में बहुत ऊँचा नीचा हमारे मुल्कों ने देखा है। दोनों देश एक दूसरे से मिले और कितने गैर मुल्कों से मिले; लेकिन एक अजीब इत्तिफाक है कि ये दोनों कौमें, बड़ी जानदार कौमें, दुनियाँ में दूर-दूर तक फिरती रहीं और अपना पैगाम, अपने खयालात, अपने विचार, अपने साहित्य, अपने धर्म और अपनी कलाओं को जगह-जगह ले जाती रहीं लेकिन कभी भी इन हजारों वर्षों में इन दोनों मुल्कों में लड़ाई नहीं हुई। ऐसी मिसाल दुनिया के इतिहास में मिलनी मुश्किल है।"[१]

---

१. नयी दिल्ली में चीन के प्रधान मन्त्री श्री चाओ एन लाई के सम्मान में आयोजित राज-भोज में नेहरू जी का भाषण।

नेहरू जी प्रकृत्या भावुक हैं। जंगलों और गाँवों को अपनी गोद में समेट कर तीव्र गति से निरन्तर आगे बढ़ने वाली नदियों में वह अद्भुत शक्ति का दर्शन करते हैं और उससे प्रेरणा ग्रहण करते हैं। उत्तुङ्ग गिरी-शृङ्खला उन्हें मनुष्य की शक्ति को चुनौती देता प्रतीत होता है। जिसकी प्रकृति ऐसी हो, उसे चीन और भारत के उपर्युक्त पारस्परिक सम्बन्ध की स्मृति जो अपूर्व आनन्द प्रदान करती होगी, उसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता। नेहरू जी की पुस्तकों में और उनके भाषणों में उपयुक्त अवसर पर यह आनन्द आपसे आप फूट पड़ा है। जहाँ कहीं भी उन्होंने चीन और भारत का उल्लेख किया, वहीं उन्होंने गौरव का अनुभव किया है। आज भी पुराने सम्बन्धों को जब वे याद करते हैं, हर्ष और उल्लास से उनका चेहरा चमक उठता है। यह कल्पना की बात नहीं है। जिन्होंने नेहरू जी के साहित्य का अध्ययन किया है, वे सरलता से यह समझ सकते हैं। 'डिसकवरी आफ इण्डिया' नामक अपनी पुस्तक में उन्होंने चीन के सम्बन्धमें जो परिच्छेद लिखा है, उसका एक-एक शब्द उनकी मनोदशा का दर्पण है। इस पुस्तक के 'भारत और चीन' शीर्षक अध्याय के अंत के अनुच्छेद का प्रत्येक शब्द मैत्री और सद्भावना की भावना से सराबोर है। चीन से पुनः मैत्री सम्बन्ध कायम होने की सम्भावना के सम्बन्ध में उनकी उत्सुकता उसमें फूट पड़ी है। आज से दस वर्ष पूर्व की, चीन के प्रति उनकी भावना का यह प्रमाण भारत और चीनके वर्तमान मैत्री और सद्भावना पूर्ण सम्बन्ध में उनकी प्रेरणाओं का ज्वलंत प्रतीक है। उस समय अर्थात् आज से दस वर्ष पूर्व उन्होंने लिखा था "और अब भाग्य-चक्र पूरा घूम चुका है। भारत और चीन पुनः एक दूसरे की ओर देखने लगे हैं। उनके मस्तिष्क में पुरानी स्मृतियाँ ताजी हो रही हैं। पुनः एक अन्य समय के ही यात्री पहाड़ों को पार कर या उन पर से उड़ कर सद्भावना के संदेश लाने लगे हैं जिनसे मैत्री के मजबूत बंधन कायम होंगे।"[१] यह आशा उस समय फलवती हुई दिखाई दी हो तो किसी को आश्चर्य न होना चाहिये जब स्वतंत्र और सजीव भारत के प्रधान मंत्री-पद पर नेहरू जी स्वयं प्रतिष्ठित हैं और पर-राष्ट्रों से भारत के सम्बन्ध-सूत्र का संचालन कर रहे हैं।

---

१. 'डिसकवरी आफ इण्डिया', 'भारत और चीन' शीर्षक अध्याय का अन्तिम अनुच्छेद।

जिस प्रकार नेहरू जी चीन-भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों से प्रभावित है, उसी प्रकार वे दोनों देशों की समान राजनीतिक दुर्दशा से भी प्रभावित रहे हैं। साम्राज्यवादियों ने इन दोनों देशों का शोषण किया, इन्हें लूटा और रौंदा। यद्यपि चीन की गुलामी का अंत भारत के गुलामी के बंधन टूटने से बहुत पहले ही हो गया, तथापि चीन को पुनः गुलाम बनाने का प्रयास भी उस समय आरम्भ हुआ जब पंडित जवाहर लाल नेहरू भारत में साम्राज्यवादी ताकत से जूझ रहे थे। गुलामी के घाव ताजे थे। इसकी पीड़ा ताजी थी। इससे जो मर्मान्तक कष्ट होता है, उसका अनुभव वे कर रहे थे। ऐसे समय में चीन को पुनः गुलाम बनाने के प्रयास को देख कर उसकी ओर उनके खिचाव में वृद्धि स्वभाविक ही थी। कौन नहीं जानता कि सन् १६३१ में चीन पर जापान के आक्रमण से वे तिलमिला उठे थे? इसका कारण केवल यही नहीं था कि चीन की स्वतंत्रता छिन रही थी। इस प्रयास में उन्हें उन वृत्तियों का गला घुटता भी दिखाई देता था जो चीन के अभ्युदय की जननी हैं और जिनका विकास एशिया का मस्तक ऊँचा करने वाला सिद्ध हुआ। चीन को वे उत्साह का स्रोत समझते रहे हैं। यही कारण है कि जहाँ एक ओर उन्होंने चीन के प्राचीन इतिहास का अध्ययन किया, वहीं दूसरी ओर इसके वर्तमान का अध्ययन भी वह बराबर करते रहे। आजसे लगभग पंद्रह वर्ष पूर्व की उनकी चीन-यात्रा इसका प्रमाण है। इससे भी पूर्व चीन के सम्बन्ध में अपनी उत्सुकता उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' में व्यक्त की थी। इसमें चीन के निवासियों की राजनीतिक गतिविधी के सम्बन्ध में उनकी अभिरूचि भली भाँति अभिव्यक्त है।

सन् १६२७ में ब्रसेल्स में साम्राज्यवाद पीड़ित देशों का सम्मेलन हुआ था। इस सम्मेलन में जावा, हिन्द चीन, फिलस्तीन, शाम, मिस्र चीन आदि देशों के प्रतिनिधियों ने और उत्तरी अफ्रिका के अरब तथा अफ्रिका के हब्शियों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। इस सम्मेलन में ही साम्राज्यवाद विरोधी लीग की भी स्थापना हुई थी। यह संयोग कितना प्रेरणा-दायक है कि इस लीग की संरक्षिका श्रीमती सनयात सेन भी रहीं जो आज चीनी लोक गणतंत्र की उपाध्यक्षा हैं। नेहरू जी ने भी इस सम्मेलन में भाग लिया था। इसका उल्लेख उन्हों ने अपनी आत्मकथा में किया है। एतत्सम्बन्धी विवरण में

चीन के प्रतिनिधियों की सरगर्मी का उल्लेख विशेष रूप से मिलता है। पुस्तक का संबन्धित अंश इस प्रकार है—"इन लोगों में सबसे ज्यादा मशहूर और क्रियाशील वे चीनी थे जो वहाँ की कोमितांग पार्टी के गरमदल के थे। यह पार्टी उन दिनों चीन में तूफान की तरह जीतती जा रही थी और उसकी अविराम गति के आगे पुराने जमाने के सामंतवादी तत्त्व जमीन में लुढ़कते नजर आ रहे थे। चीन के इस नये चमत्कार के सामने साम्राज्यवादी ताकतों ने भी अपनी तानाशाही आदतों और धौंस-डपट को छोड़ दिया था। ऐसा मालूम पड़ता था कि अब चीन की एकता और उसकी आजादी के मसले का हल होने में ज्यादा देर न लगेगी। कोमिंनतांग खुशी से फूल कर कुप्पा हो गयी थी लेकिन उसके सामने जो कठिनाइयाँ आने वाली थीं, उन्हें भी वह जानती थी। गालिबन इस पार्टी के वामपक्ष के लोगों ने ही जो दूसरे देशों के कम्युनिस्टों से मिलते-जुलते लोगों से मिल कर काम करते थे, इस तरह के प्रचार पर जोर दिया जिससे वे दूसरे मुल्कों में चीन की राष्ट्रीय स्थिति को और घर पर पार्टी की स्थिति को मजबूत कर सकें। उस समय पार्टी दो या तीन परस्पर प्रतिस्पर्द्धी और कट्टर दलों में नहीं बँट गयी थीं। इसलिए कोमिताङ्ग के यूरोपियन प्रतिनिधियों ने पददलित कौमों की कांफ्रेंस करने के विचार का स्वागत किया, शायद उन्होंने ही कुछ और लोगों से मिलकर इस विचार को पहले-पहले ज़न्म दिया।"[१]

यह पहले ही कहा जा चुका है कि चीन की राजनीतिक हलचलों में नेहरूजी की दिलचस्पी की वजह भारत और चीन की समान राजनीतिक दुर्दशा की अवस्था ही रही है। इसमें नेहरूजी की राजनीतिक दूरदर्शिता साफ-साफ नजर आती है। चीन और भारत की मैत्री पर इतना जोर क्यों दिया जा रहा है ? दोनों देश एशिया के महान् देश हैं। प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से दोनों देश सम्पन्न हैं। दोनों देशों की जन-शक्ति विशाल है। एशिया में इन दोनों की मैत्री साम्राज्यवाद का जनाजा उठा देगी। प्रारम्भ में भी नेहरूजी की यही भावना रही। वे यह मानते थे कि पराधीनता

---

१. 'मेरी कहानी'—सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन (१९४६) पृष्ठ सख्या २२१।

की जञ्जीरें तोड़ने के प्रयास में चीन की सहानुभूति भारत के लिए लाभदायक होगी। साथ ही वे साम्राज्यवाद-पीड़ित चीन की सहायता करना भी उचित और आवश्यक मानते थे और इसे भारत के राष्ट्रवादियों का कर्तव्य समझते थे। उनकी भावनाओं का उस समय भी मूल्य था; क्योंकि वे भारत की स्वतन्त्रता के लिए ब्रिटिश सत्ता से लोहा लेने वाली भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के न केवल अग्रणी नेता हो चुके थे बल्कि कांग्रेस की परराष्ट्र-नीति के नियामक भी थे। कांग्रेस के इतिहास के अनेक पृष्ठ, अन्य देशों के सम्बन्ध में उसकी साम्राज्यवाद-विरोधी कार्रवाई से भरे पड़े हैं। चीन पर जापान के आक्रमण की भर्त्सना करते हुए कांग्रेस ने सन् १९३७ में एक प्रस्ताव पास किया था जिसमें कहा गया था कि "कांग्रेस महासमिति चीन में जापानी साम्राज्यवाद के आक्रमण से चिन्तित है और वह नागरिक जनता पर बम बरसाये जाने के निर्दय व्यवहार और आतंक से परिचित है। असाधारण परेशानियों और विषमताओं के होते हुए भी अपनी स्वतन्त्रता और अपनी एकता के लिए चीनी जनता वीरतापूर्वक जो संघर्ष कर रही है, महासमिति उसकी प्रशंसा करती है। राष्ट्रीय सङ्कट के समय आन्तरिक एकता पर महासमिति चीनी जनता को बधाई देती है। इस राष्ट्रीय विपत्ति के अवसर पर चीनी जनता के प्रति महासमिति अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट करती है और उसकी आजादी की लड़ाई में भारतीय जनता के पूर्ण समर्थन का आश्वासन देती है। महासमिति भारतवासियों से यह माँग करती है कि वे चीनी जनता के प्रति सहानुभूति के प्रतीक स्वरूप, जापानी चीजों का इस्तेमाल करना बन्द कर दें।" [१]

कहना न होगा कि विदेशी मामलों में कांग्रेस की दिलचस्पी नेहरूजी की ही प्रेरणा का परिणाम था। चीन के सम्बन्ध में यह दिलचस्पी सक्रिय भी रही है। कांग्रेस ने चीन पर जापानी आक्रमण का विरोध प्रकट करते हुए केवल प्रस्ताव ही नहीं पास किया। उसने डाक्टर अटल के नेतृत्व में घायलों की सेवा-शुश्रुषा के हेतु एक चिकित्सक मण्डल भी चीन में भेजा था। चीन निवासियों ने इस चिकित्सक मण्डल के कार्यों की काफी प्रशंसा की। इस मण्डल के एक सदस्य डाक्टर कोटनिस का चीन में ही देहावसान हुआ।

---

२. कांग्रेस का इतिहास। ले० पट्टाभि सीतारामैया, दूसरा खण्ड—पृष्ठ संख्या ७०।

नेहरूजी ने चीन पर साम्राज्यवादी जापान के बर्बर आक्रमण के विरुद्ध यूरोप में भी आवाज उठायी थी। २ जून, सन् १९३८ को वे भारत से यूरोप के लिए रवाना हुए। मलाया में भारतीय व्यापारियों तथा सिकन्दरिया में नहस पाशा और वफ्द दल के दूसरे नेताओं से मिलने के बाद वे सीधे बार्सीलोना (स्पेन) चले गये और वहाँ स्पेन की स्थिति का निकट से उन्होंने अध्ययन किया। वहाँ से वे पेरिस और पेरिस से इङ्गलैण्ड में गये। "इङ्गलैण्ड में उनका कार्य-क्रम विविध प्रकार का था। वहाँ से वे एक दृष्टि डाल कर चीन, भारत तथा संसार के अन्य भागों में छिड़े हुए संघर्ष को देख सकते थे। स्पेन के युद्ध की दूसरी साल गिरह के दिन ट्राफल्गर स्क्वायर में उन्होंने नेलसन की मूर्ति के नीचे खड़े होकर भाषण करते हुए कहा था—'हमारे लिए फासिज्म नया नहीं है। हम इसका अनुभव पिछले डेढ़ सौ वर्षों से कर रहे हैं। हम जानते हैं कि स्पेन और चीन को किन परिस्थितियों से होकर गुजरना पड़ रहा है। हम इन देशों का समर्थन करते हैं और उनसे शिक्षा ग्रहण करते हैं।'"[१]

यूरोप से लौटते समय नेहरूजी सन् १९३९ में चीन में भी गये थे। वहाँ उनकी बातें केवल च्याङ्गकाई शेक से हो सकीं थी। अधिक दिनों तक न रुकने के कारण वे अन्य लोगों से मिल न सके थे। वहाँ उन्होंने चीन के प्रति भारत के राष्ट्रवादियों की हमदर्दी जाहिर की और भारत की स्वतन्त्रता के मामले में उनकी सहानुभूति प्राप्त की। इधर भारत में पेचीदा प्रश्न पैदा हो गया था। यूरोपीय युद्ध के कारण ब्रिटिश हुकूमत अपने साथ भारत को युद्ध-लिप्त कर रही थी। इस विषम परिस्थिति पर कांग्रेस की कार्य-कारिणी को विचार करना था। इसमें भाग लेने के लिए नेहरूजी को तुरन्त चीन से भारत के लिए रवाना होने का सन्देश भेजा गया। नेहरूजी को बाध्य होकर लौटना पड़ा। वर्तमान चीनी लोक गणतन्त्र के प्रधान मन्त्री श्री चाओ एन लाई आदि से मिलने की उनकी इच्छा पूर्ण न हो सकी। श्री चाओ एन लाई की भारत-यात्रा के समय उनके सम्मान में आयोजित राजभोज के अवसर पर नेहरूजी ने अपनी

---

१. डा० पट्टाभि सीतारामैया लिखित 'कांग्रेस का इतिहास' खण्ड २, पृष्ठ संख्या १०३।

उस समय की इच्छा का उल्लेख किया था और यह कहा था कि मैं 'उस समय भी आपसे (चाओ एन लाई से) मिलना चाहता था लेकिन मिल न सका था।' यह इच्छा लगभग पन्द्रह वर्षों के बाद पूर्णतः बदली हुई परिस्थितियों में पूरी हुई।

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नेहरूजी चीन की ओर आकृष्ट रहे हैं, न कि चीन के दल-विशेष की ओर। उनकी सहानुभूति चीनी जनता के लिए रही है। इस सहानुभूति का एक निश्चित लक्ष्य रहा है। भारत और चीन में होने वाले ऐतिहासिक उलट-फेर ने यह लक्ष्य साफ'कर दिया है। अब दोनों देश स्वयं अपने-अपने भाग्य का निर्माण कर रहे हैं। यह स्थिति नेहरूजी की पुरानी उमङ्गों को उभाड़ रही है। फलतः वह चीन-भारत की पारस्परिक मैत्री के बंधन को दृढ़ करते हुए एशिया में नयी शक्ति को जगा कर इस भूभाग से साम्राज्यवाद को उन्मूलित करने की चेष्टा में संलग्न है। उनका यह इरादा छिपा नहीं है कि चीन और भारत—इन दो महान् राष्ट्रों की मैत्री एशिया के भाग्य को जगायेगी एवं इनका पारस्परिक ऐतिहासिक सम्बन्ध एशिया में भ्रातृभाव के विकास में सहायक होगा। इस महा-प्रयास की नींव 'पंचशील' आदर्शों पर आधारित होगी।

चीन से मैत्री की तीव्र आकांक्षा के बावजूद नेहरूजी ने अपने आदर्शों और सिद्धान्तों को तिलाञ्जली नहीं दी। यह विशिष्ठता इतिहास में अपना स्थान अक्षुण्ण बनाये रखेगी। आगे के अध्यायों में उपयुक्त स्थल पर इसका उल्लेख किया जायगा। यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि दोनों राष्ट्र एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करते हुए और एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता का सम्मान करते हुए, मित्रता को दृढ़ से दृढ़तर बनाने के लिए दृढ़ संकल्प है।

नये चीन का अभ्युदय

अक्तूबर, सन् १९४९ में नये चीन का—चीनी लोक गणतन्त्र का अभ्युदय हुआ। च्यांगकाई शेक की सत्ता समाप्त हुई और कम्युनिस्ट सत्ता प्रतिष्ठित हुई। चीन-भारत मैत्री के सन्दर्भ में इस परिवर्तन का कोई प्रभाव नेहरूजी पर नहीं पड़ा। इसके लिए नेहरूजी को तीव्र आलोचना का शिकार भी होना पड़ा। लेकिन यह आलोचना कभी भी तर्क-सङ्गत नहीं रही। जिन्होंने आलोचना की, वे विचार-विशेष के भक्त हैं और चाहते हैं कि सभी लोग उनकी ही भाँति सोचे। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध इस कठमुल्लापन की नीति से कभी पनप नहीं सकते। प्रत्येक देश की स्थिति अलग-अलग होती है। वहाँ की परम्पराएँ अलग होती है। सोचने और विचार करने का तरीका अलग होता है। इस बात को लोग भूल जाते हैं। वे यह भी नहीं समझते कि एक देश का दूसरे देश से सम्बन्ध दोनों देशों की जनता के हितों के पक्ष में होना चाहिये। कोई देश यदि दूसरे देश से सम्बन्ध स्थापित करता है तो उसे सम्बन्धित देश की जनता की ओर देखना चाहिये न कि वहाँ के गुट या वर्ग-विशेष की ओर। चीन के प्रति नेहरूजी की धारणाओं का सम्बन्ध सदा चीन की जनता से रहा है। चीन पर जापान के आक्रमण को उन्होंने च्यांगकाई शेक पर जापान का आक्रमण नहीं माना बल्कि चीन की जनता पर माना। यह कोई रहस्य की बात नहीं है। नेहरूजी स्वयं ही अपनी दृष्टि कई बार स्पष्ट कर चुके हैं। वे पूरी कौम के प्रशंसक रहे हैं और उससे ही प्रभावित रहे हैं। उन्होंने अनेक बार यह स्वीकार किया है कि 'चीनी लोगों की जीवन-शक्ति मुझे हैरत में डाल देती है। मैं इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता कि कोई कौम, जिसकी नींव इतनी मजबूत हो,

मर सकती है।'[१] यह बात तब और भी स्पष्ट हो जाती है जब उन भावनाओं का अध्ययन किया जाता है, भारत के सम्बन्ध में जिनकी अपेक्षा उन्होंने चीन से की। कम से कम यह तो आइने की तरह साफ है कि वे चीन की सहानुभूति पूरे भारत की जनता के लिए समझते रहे हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय जनरलिसिमो और मैडम च्याङ्गकाई शेक ने भारत का दौरा किया। नेहरूजी पर इसका जो प्रभाव पड़ा उसका उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया—"सरकारी रवैये के कारण तथा हिन्दुस्तान की सरकार की मर्जी के मुताबिक वे आम जनता से मिल-जुल नहीं सकते थे। लेकिन इस संकट के समय (भारतीय स्वातन्त्र्य युद्ध) हिन्दुस्तान में उनकी मौजूदगी और हिन्दुस्तान की आजादी के लिए उनकी जाहिरी हमदर्दी ने हिन्दुस्तान को राष्ट्रीय आवरण के बाहर आने में मदद दी और इस वक्त जिन अन्तर्राष्ट्रीय सवालों पर दाँव लग रहा था, उनकी जानकारी बढ़ी। हिन्दुस्तान और चीन को एक करने वाले धागे और मजबूत हुए।"[२] नेहरूजी ने यह भाव भी प्रकट किया था कि "चीन में यह बात जाहिर थी कि हमारे किसी खास काम की चाहे जो प्रतिक्रिया हो, उनकी हमदर्दी पूरी तरह हिन्दुस्तान की आजादी की तरफ थी। इस हमदर्दी का आधार इतिहास था। इससे भी ज्यादा गहरी बात यह थी कि जब तक हिन्दुस्तान आजाद न होगा, तब तक चीन की आजादी के लिए भी खतरा बना रहेगा।"[३]

यह बुनियादी बात है। इसकी उपेक्षा करने पर चीन के प्रति नेहरूजी की धारणाएँ और उनकी नीति सही अर्थ में कभी भी समझ में नहीं आ सकती। इस अज्ञान का परिचय लोगों ने न दिया हो, ऐसी बात नहीं है। यह संयोग की ही बात थी कि चीन में कम्युनिस्ट शासन की प्रतिष्ठा की घोषणा के एक सप्ताह बाद ही नेहरूजी अमेरिका के लिए रवाना हुए। कम्युनिस्ट चीन और अमेरिका का जैसा कटु सम्बन्ध रहा है, उसे देखते हुए

---

१. नेहरूजी की पुस्तक 'हिन्दुस्तान की कहानी'—पृष्ठ संख्या ५५।

२. नेहरूजी की पुस्तक 'हिन्दुस्तान की कहानी'—पृष्ठ संख्या ५६४।

३. नेहरूजी की पुस्तक 'हिन्दुस्तान की कहानी'—पृष्ठ संख्या ६२८।

ही नेहरूजी की अमेरिका-यात्रा के साथ 'संयोग' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह स्वाभाविक ही था कि इस अवसर पर अमेरिका में चीन के सम्बन्ध में नेहरूजी के विचारों को जानने की उत्सुकता प्रकट की जाती। इसके साथ यदि अमेरिका का अन्तर्राष्ट्रीय स्वार्थ जुड़ा हुआ था तो स्वतन्त्र विचारक के रूप में नेहरूजी के चरित्र की समीक्षा का प्रश्न भी उससे अलग नहीं था। एक ओर सारे पश्चिमी जगत् की आँखें नेहरूजी की ओर लगी हुई थी और दूसरी ओर एशिया के बहुत बड़े भूभाग और उपनिवेशों की पीड़ित और दलित जनता उनकी ओर देख रही थी। इसका कारण भी स्पष्ट था। चीन में कम्युनिस्ट शासन की स्थापना के दूसरे ही दिन (२ अक्टूबर, १९४९) मास्को रेडियो से यह घोषणा की जा चुकी थी कि "सोवियत सरकार तथा चीन की कम्युनिस्ट सरकार से दूत-सम्बन्ध स्थापित हो चुका है और सोवियत सरकार ने कैंटन-स्थित चीन की राष्ट्रीय सरकार से सम्बन्ध तोड़ लिया है।" चीनी लोक गणतन्त्र के अध्यक्ष श्री माओत्सेतुंग दुनिया के सभी देशों के सामने यह पैगाम रख चुके थे कि "नयी कम्युनिस्ट सरकार ऐसे किसी भी देश के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तैयार है जो समानता, पारस्परिक लाभ, प्रादेशिक अखंडता और सर्वतंत्र स्वतंत्र देश की सत्ता की इज्जत के सिद्धान्तों को स्वीकार करता हो।"[१]

जिस समय नेहरूजी अमेरिका गये थे, उस समय भारत को स्वतंत्रता अर्जित किये दो वर्ष बीत चुके थे। उस समय भी वे भारत के प्रधान मंत्री और परराष्ट्र मंत्री थे। 'महान् एशियाई राष्ट्र के अभ्युदय' के क्रम की ओर दुनिया की आँखें लगी थी। विश्व के राष्ट्र यह जानना चाहते थे कि भारत कम्युनिस्ट चीन की सरकार को मान्यता प्रदान करेगा या नहीं? जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अमेरिका में इसके प्रति गहरी उत्सुकता थी। इसका कारण यह था कि कम्युनिस्ट सरकार को सत्तारूढ न होने देने के लिए अमेरिका ने च्यांग-काई शेक की राष्ट्रवादी सरकार को अरबों डालर की सहायता दी थी और

---

१. राजकीय कार्यों पर श्री चाओ एन लाई की रिपोर्ट (अंग्रेजी) भारत के चीनी दूतावास द्वारा प्रकाशित—पृष्ठ संख्या ४०।

शस्त्रास्त्र दिये थे। इसके बावजूद चीन की राष्ट्रवादी सरकार और उसके नेता च्यांगकाई शेक चीन के बाहर फारमोसा में खदेड़ दिये गये। एक ओर यह स्थिति थी, दूसरी ओर भारत को अमेरिका की सहायता की आवश्यकता थी। भारत में व्यापक रूप में अन्नाभाव था। भारत, अमेरिका से आर्थिक सहायता तो चाहता ही था, साथ ही गल्ला भी चाहता था। चीन के प्रति नेहरू जी की नीति इस कठिन कसौटी पर कसी जाने वाली थी। इस कठिन परिस्थितिमें भी चीन के प्रति नेहरूजी की दृष्टि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। एशिया के उत्थान के लिए चीन के अभ्युदय को जिस प्रकार वे बराबर आवश्यक समझते थे, उस प्रकार ही वे समझते रहे। चीन को मान्यता देने के सम्बन्ध में उन्होंने साफ साफ यह घोषित कर दिया कि "एशिया में जो क्रान्तिकारी घटनाएँ घट रही है, भारत उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता।" जिस समय उन्होंने यह घोषणा की, उस समय उनका मस्तिष्क आइने की तरह साफ था और उसमें उनके हृदय की यह आवाज साफ-साफ नजर आ रही थी कि "भारत एशियाई उपनिवेशों को परतन्त्रता के बन्धन से उन्मुक्त होकर राष्ट्रीयता के विशुद्ध वातावरण में विकसित होते देखना चाहता है। वह इन देशों की जनता का शोषण और उत्पीड़न बरदास्त नहीं कर सकता। हिन्दचीन, हिन्दएशिया और अन्य एशियाई उपनिवेशों की जनता में भारत की विशेष दिलचस्पी है।"[१]

जिसके हृदय में एशिया के अभ्युदय की ऐसी गहरी लालसा रही हो, उससे यह आशा करनी ही नहीं चाहिये थी कि वह एशिया में जन्म लेने वाली नयी स्वतन्त्र शक्ति की ओर मैत्री का हाथ न बढ़ायेगा। फिर भी सर्वदा कूटनीति पर ही विश्वास करने वालों की समझ में यह बात नहीं आयी। अमेरिका की तो बात दूर रही, भारत में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो नेहरूजी पर 'अमेरिका के हाथ बिकने' का इलजाम खुल्लम-खुल्ला लगा रहे थे। यह इलजाम लगाया था उन लोगों ने जो स्वयं मनसा, वाचा, कर्मणा 'राजनीतिक रूढ़िवाद' के हाथों बिके हुए हैं। अस्तु, नेहरूजी की

---

१. लेखक की पुस्तक—'अमेरिका में नेहरू' पृष्ठ संख्या २४।

अमेरिका-यात्रा के दौरान में उनसे कई बार ऐसे प्रश्न पूछे गये जिनका सम्बन्ध चीन को मान्यता देने के निर्णय से था। नेहरूजी का उत्तर भी प्रायः मिलता-जुलता था। उदाहरण के लिए यहाँ दो प्रश्नोत्तर प्रस्तुत किये जा रहे हैं। इनमें पहले का सम्बन्ध सानफ्रांसिस्को प्रेस क्लब में आयोजित प्रेस कांफ्रेंस से और दूसरे का सम्बन्ध अमेरिका से लन्दन के लिए रवाना होने से दो घण्टे पूर्व न्यूयार्क के वाल्डोर्फ आस्टोरिया होटल में पत्र-प्रतिनिधियों से हुई वार्ता से है। प्रश्नोत्तर क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) प्रश्न—"चीन में कम्युनिस्ट शक्ति के अभ्युदय से क्या भारत आकुल है?" उत्तर—"किसी बात से आकुल होना, काफी अर्सा हुआ मैंने छोड़ दिया है।" प्रश्न—"क्या भारत, चीन की सरकार को मान्यता देने वाला है?" उत्तर—"चीन में घटने वाली घटनाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती।"

प्रतिकूल परिस्थितियां नेहरू जी को प्रभावित न कर सकी। चीन को मान्यता देने के प्रश्न पर उन्हों ने न्याय दृष्टि से और एशिया के हित पर ध्यान देते हुए विचार किया। फलस्वरूप ३० दिसंबर, १९४९ को भारत ने चीन की कम्युनिस्ट सरकार को मान्यता प्रदान करने की घोषणा कर दी। २० मई को पीकिंग में भारत के राजदूत ने अपना प्रमाण-पत्र पेश किया। १५ सितम्बर को चीन का राजदूत भारत में पहुँचा और २० सितम्बर को उसने भी अपना प्रमाण-पत्र पेश किया।"[1] इसकी व्यापक प्रतिक्रिया हुई। कुछ ही समय के बाद ब्रिटेन आदि ने भी चीनी लोक गणतंत्र की सरकार को मान्यता प्रदान करने की घोषणा कर दी। बड़े राष्ट्रों में केवल संयुक्तराष्ट्र अमेरिका ने ही चीन सरकार को मान्यता प्रदान नहीं की। चीन के प्रमुख भूभाग से पलायित होकर फारमोसा द्वीप में शरण लेने वाली च्यांगकाई शेक की सरकार के प्रति अमेरिका की जो नीति थी, उसे देखते हुए कम्युनिस्ट चीन को मान्यता न प्रदान करने का उसका कार्य स्वाभाविक था। उसने स्पष्टतः च्यांगकाई पक्ष से अपना गठबंधन कर रखा था। फलतः उसकी पराजय उसे अच्छी न लगी। उसने अन्त-

1. Report of the Ministry of External Affairs, 1950-1951 P. P. 6.

राष्ट्रीय मान्यताओं को तिलांजली दे दी लेकिन यह बात न छिपायी। वास्तविकता को छिपाने की उसने कोशिश की भी तो बहुत देर के बाद। तबतक उसका कम्युनिस्ट-द्रोह बिलकुल साफ हो गया था।

सानफ्रांसिस्को के कामनवेल्थ क्लब आफ कैलिफोर्निया में भाषण करते हुए अमेरिका के तत्कालीन परराष्ट्र-मंत्री श्री डीन अचेसन ने चीन के सम्बन्ध में जो उद्गार प्रकट किये थे, वे अमेरिका की वास्तविक मनोभावना को व्यक्त करने वाले थे। उन्होंने कहा था—"चीन में वहाँ की जनता की स्वतंत्रा की दृढ़ पुरानी अभिलाषाएँ दूसरे छोर पर पहुँच गयी हैं। सन् १६१२ में मंचू राजवंश के शासन की समाप्ति के बाद से चीन के लोग प्रभुसत्ता में हस्तक्षेप की स्थिति से मुक्त होने और अपने जीवन की उन्नति करने के लिए प्रयत्नशील हैं। वर्षों तक उन्होंने अकल्पित साहस, सहिष्णुता और धैर्य के साथ प्राकृतिक विपत्तियों, आंतरिक मतभेद और कलह तथा विदेशी शत्रुओं के विरुद्ध संघर्ष किया और इसे तब तक जारी रखा जब तक युद्ध की समाप्ति के बाद उन्हें अपनी आशाएँ फलवती होती दिखाई न दीं। इसके बाद जन-आकांक्षाओं के अनुकूल आचरण करने में अपनी असफलता, उदासीनता और अंधेपन के कारण चीन सरकार ने जनता का विश्वास और सहयोग खो दिया। चीन की राष्ट्रवादी सरकार शस्त्रास्त्रों की ताकत से नहीं उलटी गयी। वह जन-सहयोग के अभाव तथा अपनी स्वभाविक दुर्बलता के कारण समाप्त हुई। कम्युनिस्ट उसकी गलतियों के कारण विजयी हुए, अपने सिद्धान्तों के कारण नहीं। दुर्बलता को खोज कर उसका अनुचित लाभ उठाने की भलीभाँति विदित कम्युनिस्ट तरकीब से उन्होंने काम लिया और दुर्बलता को पा जाने पर उसका खूब अनुचित लाभ उठाया। अपने अंधेपन, अपनी अयोग्यताओं और प्रभावहीनता एवं कम्युनिस्टों की चालबाजियों के कारण आज चीन की सरकार की प्रभुता केवल फारमोसा और हैनान द्वीपों तक ही सीमित है। × × × जनता की अभिलाषाओं की अभिव्यक्ति के रूप में लगभग आधी शताब्दी पूर्व जो क्रान्तिकारी आन्दोलन चीन में प्रारम्भ हुआ था, उस पर सम्प्रति कम्युनिस्टों का कब्जा हो गया है। राजसत्ता पर उनके अधिकार के कारण क्रान्तिका वास्तविक मकसद उलटा हो गया है। जब कि पड़ोसी देश अंततः सच्ची राष्ट्रीय स्वतंत्रता

अर्जित कर रहे हैं—इनमें से कुछ अपने इतिहास में पहली बार—चीन, जिसका इतिहास लम्बा और शानदार है, सोवियत का मुहताज हो रहा है।"[1]

अमेरिका के तत्कालीन परराष्ट्र मन्त्री श्री अचेसन ने कहीं भी उन कारणों का भलीभाँति उल्लेख ऊपर नहीं किया है जिनसे चीन को मान्यता न देने की स्थिति का स्पष्टीकरण होता हो। वास्तव में ऐसा कोई कारण था ही नहीं। साधारणतः यह माना जाता है कि जो सरकार स्वतन्त्रतापूर्वक दूसरे देशों से सन्धि और समझौते कर सकती है, विदेशों में अपने दूतावास स्थापित कर सकती है, बाह्य हस्तक्षेप के बिना अपने देश की शासन-व्यवस्था का निर्द्धारण कर सकती है और अन्य राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में केवल अपने ही देश की जनता के प्रति उत्तरदायी होती है, वह सरकार स्वतन्त्र होती है और उसका देश स्वतन्त्र देश कहा जाता है। इस प्रकार के स्वतन्त्र देश से कूट-नीतिक सम्बन्ध कायम न करने की स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब उसका कोई आचरण अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराओं के प्रतिकूल रहा हो। अमेरिका के सत्ता-धिकारियों ने इसकी उपेक्षा की। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नेहरूजी ने इस पर न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराओं एवं मान्यताओं की दृष्टि से ही विचार किया। उन्होंने चीन को अन्तर्राष्ट्रीय विधान का पात्र माना; क्योंकि उसकी दशाएँ इसके अनुकूल थीं। अन्तर्राष्ट्रीय विधान के प्रख्यात लेखक श्री हाल ने अपनी पुस्तक 'इण्टरनेशनल ला' (अन्तर्राष्ट्रीय कानून) के दूसरे अध्याय में लिखा है कि यह साधारण तथ्य है कि यदि कोई समुदाय समष्टि रूप में, निर्विवाद और एकांत रूप में अपने देश की जनता और वहाँ की स्थितियों पर नियन्त्रण रखता है, यदि वह परराष्ट्र-सम्बन्ध किसी अन्य समुदाय की इच्छा के अनुकूल निर्धारित नहीं करता, तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधान को मानता है और उसके अस्तित्व के स्थायित्त्व की आशा की जा सकती है तो

---

1. 'Official Text' Published by the United States Information Service of the American Embassy and Consulates General in India.
50–C T 7 Mar. 20, 1950.

वह अन्तर्राष्ट्रीय विधान का पात्र है।" इन सभी कसौटियों पर चीन खरा उतरता था। इतिहास के इस क्रम की वास्तविकता को नेहरूजी ने स्वीकार किया।

यह मान लेने पर कि चीन पर कम्युनिस्ट सरकार की प्रभुता स्थापित हो गयी है, यह मानना नेहरूजी के लिए स्वाभाविक ही था कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में चीन को उसका उचित स्थान मिलना चाहिये। उन्होंने यह स्वीकार किया और अन्य राष्ट्रों से भी इसे स्वीकार करने का आग्रह किया। बहुत से राष्ट्रों पर नेहरूजी की नीति के औचित्य का प्रभाव जरूर पड़ा लेकिन अमेरिका पर इसका तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। उसने आज तक कम्युनिस्ट चीन की सरकार को मान्यता प्रदान नहीं की। उसकी गुटबन्दी के कारण ही चीन संयुक्त राष्ट्रसंघ में अपना न्यायपूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं कर सका है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के जिन पाँच बड़े राष्ट्रों को संघ की सुरक्षा समिति का स्थायी सदस्य माना गया है और जिन्हें निषेधाधिकार प्राप्त है, उनमें चीन भी है। लेकिन चीन के साठ करोड़ निवासियों पर शासन करने वाली तथा परराष्ट्रों से स्वतन्त्रतापूर्वक अपना सम्बन्ध कायम करने वाली चीन की कम्युनिस्ट सरकार को नहीं बल्कि भगोड़े च्यांङ्गकाई शेक की सरकार को जो अमेरिका की छात्र छाया में फारमोसा के कुछ लाख लोगों पर हुकूमत कर रही है, प्रतिनिधित्त्व प्राप्त है।

इस अस्वाभाविक स्थिति का अन्त करने और संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन को उसका स्थान दिलाने की ओर भी नेहरूजी ने ध्यान दिया। इस ओर से भी वे उदासीन नहीं रहे। समय समय पर उन्होंने इसकी भी आलोचना की। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि "सार्व-भौमिकता के जिस सिद्धान्त को लेकर संयुक्त राष्ट्रसंघ का अभ्युदय हुआ, उससे वह अलग हट गया है। उसने चीन ऐसे महान् राष्ट्रको मान्यता नहीं प्रदान की। चीन की वर्तमान सरकार को हम पसन्द करे या नापसन्द करें, हम चीन की क्रान्ति से सहमति प्रकट करें या असहमति प्रकट करें, इन प्रश्नों का उपर्युक्त तथ्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। सार्वभौमिकता के आधारभूत सिद्धान्त का संयुक्त राष्ट्रसंघ ने परित्याग कर दिया है। यह उसी प्रवृत्ति का परिचायक है जिससे 'लीग आफ नेशंस' का

पतन हुआ।........स्पष्टतः दृढ़ और शक्तिशाली राष्ट्र को संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा मान्यता न प्रदान किये जाने के कारण नयी समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं।"[1]

संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा चीनी लोक गणतन्त्र को मान्यता न प्रदान किये जाने का सबसे प्रबल कारण अमेरिका का अवरोध रहा है। इसे जिन तर्कों पर आधारित करने की कोशिश अमेरिका के राजनीतिज्ञ करते रहे हैं, उनसे चीनी लोक गणतन्त्र के प्रति नेहरूजी की धारणाएँ असंगत सिद्ध नहीं हुई। सच तो यह है कि भारत की ओर से चीन के पक्ष में जो तर्क उपस्थित किये जाते रहे हैं, उनका सही-सही उत्तर न तो कभी अमेरिका ने दिया, न उसके मत के समर्थक अन्य राष्ट्र ने। २९ मार्च, सन् १९५४ को ओवरसीज क्लब (न्यूयार्क) में अमेरिका के परराष्ट्र-मन्त्री जान फास्टर डलेस ने जो भाषण किया, उसमें चीन के सम्बन्ध में अमेरिका की नीति का उल्लेख काफी विस्तार से किया गया। यहाँ इसके सम्बन्धित अंश को उद्धरित करना अप्रासाङ्गिक न होगा। फास्टर डलेस ने कहा था कि "अमेरिका चीन की साम्यवादी सरकार को स्वीकार नहीं करता, यह सर्वविदित है। लेकिन प्रतीत होता है कि इसका कारण भलीभाँति विदित नहीं है। कुछ लोग यह सोचते हैं कि इसके लिए कोई कारण नहीं है और हम केवल भावना-विशेष से प्रेरित होकर ही ऐसा कर रहे हैं। अमेरिका की सरकार यह विश्वास करती है कि उसका रुख अत्यधिक विवेकपूर्ण है।"

"पहले मैं याद दिलाना चाहता हूँ कि कूटनीतिक मान्यता देने का कार्य स्वेच्छा से किया जाने वाला कार्य है। एक देश को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी देश से कूटनीतिक मान्यता देने की माँग करे। बहुधा यह लाभदायक होता है कि उन लोगों के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध हो जो वस्तुतः शासन-सूत्र का संचालन करते हैं और यह मानी हुई बात है कि मान्यता का अर्थ अनिवार्यतः नैतिक मान्यता प्रदान करना नहीं होता।"

"राष्ट्रपति मनरो ने कांग्रेस को प्रेषित अपने प्रसिद्ध सन्देश में जारशाही रूस की निरंकुश और साम्राज्यवादी शासन-व्यवस्था की निन्दा की थी लेकिन

---

1. Jawaharlal Nehru's Speeches - 1949 - 1953
   P. P. 246.

उन्होंने कहा था—'फिर भी हमारी यह नीति रहेगी कि हम व्यवहारतः उस सरकार को वहाँ की कानून-संगत सरकार माने।' वस्तुतः यही अमेरिका की सामान्य नीति रही है और मेरा विश्वास है कि यह विवेकपूर्ण सामान्य नीति है। लेकिन फिर भी जहाँ कहीं यह हमारे हितों से मेल नहीं खाती, हम इसमें परिवर्तन करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र है।"

"साम्यवादी चीन के सम्बन्ध में हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते कि चीनी साम्यवादियों की सरकार बराबर और उग्र रूप में अमेरिका का विरोध करती रही है।"

उपर्युक्त भाषण में ही संयुक्त राष्ट्र-संघ में चीन के प्रवेश पर भी श्री डलेस ने अमेरिका की नीति स्पष्ट की थी। आपका कहना था कि "संयुक्त राष्ट्र-संघ के घोषणापत्र के अनुसार सदस्यता का अधिकार "शान्तिप्रिय" राष्ट्रों तक सीमित प्रतीत होता है। इसलिये यह कहना प्रासंगिक ही प्रतीत होता है कि चीन की साम्यवादी सरकार ने सन् १९५० के अन्तिम भाग में आक्रमणात्मक कार्रवाई की। उसकी सेनाओं ने कोरिया पर आक्रमण किया तथा संयुक्त राष्ट्र-संघ की कमान के विरुद्ध लड़ाई लड़ी।"[1]

स्पष्ट है कि जान फास्टर डलेस के कथन में उन बुनियादी बातों का उल्लेख तक नहीं है जिनको कसौटी बना कर नेहरूजी ने चीन को मान्यता प्रदान की जाने के सम्बन्ध में अपनी धारणा उसपर कसी और वह खरी सिद्ध की। संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीनी लोक गणतंत्र के प्रवेश के प्रश्न को ही ले लिया जाय। इस सम्बन्ध में नेहरूजी के जो विचार हैं, उनका उल्लेख श्री डलेस के उपर्युक्त कथन से पूर्व किया जा चुका है। उनपर ध्यान देते हुए अमेरिका के पर-राष्ट्र मंत्री के कथन पर विचार करने पर उसकी निस्सारता सहज ही स्पष्ट हो जाती है।

नेहरूजी ने इस प्रश्न पर राष्ट्र-विशेष के साथ चीन के राजनीतिक संबंध

---

1. United States Policy on Indo China and Chinese Communist regime-P. P. 5–6. Published by United States Information Service, New Delhi.

की पृष्ठ-भूमि में नहीं बल्कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की बुनियाद के आधार पर विचार किया। उनका तर्क यह रहा कि "मूल प्रश्न चीन को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाने का नहीं हैं। चीन संयुक्त राष्ट्रसंघ की नींव डालने वाले राष्ट्रों में से एक है। प्रश्न तो यह है कि चीन का प्रतिनिधित्व कौन करता है? यह तथ्य भलीभाँति महसूस नहीं किया जाता। किस नये राष्ट्र को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाया जाय, वस्तुतः सुरक्षा परिषद के लिए यह विचार ठीक नहीं है। चीन नया देश नहीं है। यह संयुक्त राष्ट्रसंघ की नींव डालने वाला राष्ट्र है।...........यह देख कर मुझे हैरत और ताज्जुब होता है कि इस सीधे प्रश्न को घुमा फिरा कर कितना तोड़ा मरोड़ा गया और इसे असीम कठिनाइयों का कारण बनाया गया। सुदूर पूर्व या दक्षिण-पूर्व एशिया की समस्याओं का तब तक कोई निपटारा न होगा, जब तक चीनी लोक गणतंत्र से सम्बंधित इस महान् तथ्य को स्वीकार नहीं कर लिया जाता। मेरा कहना है कि दक्षिण-पूर्व एशिया और सुदूर पूर्व में शांति को सुनिश्चित करने वाले कारणों में एक कारण चीन को मान्यता प्रदान करना तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ में उसको स्थान देना है।"

"यदि चीन संयुक्त राष्ट्रसंघ में आ जाता है तो वहाँ और अन्य जगह प्रत्यक्षतः उसका सामना करने की स्थिति उत्पन्न हो जायगी। इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्रसंघ में रहने पर उसको कुछ जिम्मेदारियों का भार भी वहन करना होगा। आज की स्थिति अजीबो गरीब है। कभी-कभी संयुक्त राष्ट्रसंघ चीन के सम्बन्ध में कोई प्रस्ताव स्वीकार करता है और इस भाव से उसे कुछ करने का निर्देश देता है। चीन की ओर से उत्तर मिलता है—'संयुक्त राष्ट्र-संघ हमारी सत्ता स्वीकार नहीं करता; चीन को वहाँ प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हैं; हम उसके अंग नहीं है; फिर उसकी हिदायतें हम स्वीकार कैसे कर सकते हैं?' यह उत्तर समझ में आने योग्य है।"[१]

यह बताया जा चुका है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा चीन को मान्यता प्राप्त न होने का सबसे प्रबल और शायद एक मात्र कारण अमेरिका का विरोध ही

---

१. भारत की लोक-सभा में परराष्ट्र नीति पर भाषण—२९ सितम्बर सन् १९५४।

है। जिन कारणों के आधार पर अमेरिका चीनी लोक गणतंत्र का विरोध करता रहा है, वे वास्तविक नहीं है। नेहरूजी ने यह भी बहुत अच्छे ढंग से और मैत्री के इच्छुक राजनीतिज्ञ की भांति सिद्ध किया। १८ मई, सन् १९५४ को भारत की राज्य सभा में परराष्ट्र नीति-विषयक बहस को प्रारम्भ करते हुए उन्होंने जो भाषण किया था, उसमें उन्होंने अमेरिका के वर्तमान परराष्ट्र मंत्री श्री डलेस की पुस्तक "वार आर पीस" का एक अंश उद्धरित किया था। यह पुस्तक श्री डलेस ने आइजनहावर प्रशासन में परराष्ट्र मन्त्री-पद का भार ग्रहण करने से पूर्व लिखी थी। नेहरूजी द्वारा उद्धरित अंश का अनूदित रूप इस प्रकार है—"मैं अब यह विश्वास करता हूँ कि वास्तव में दुनिया का जो रूप है, उसी रूप में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सभा (असेम्बली) यदि उसका प्रतिनिधित्व करे और सूक्ष्मता से 'भले' और 'बुरे' राष्ट्रों में विभेद करने की कोशिश न करे तो शान्ति की स्थापना के कार्य का निर्वाह संयुक्त राष्ट्रसंघ सबसे अधिक अच्छी तरह कर सकता है।"

"कुछ वर्तमान सदस्य-राष्ट्रों की सरकारें जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती। लेकिन वास्तव में यदि वे 'शासन' करती हैं, तो उनकी शक्ति का प्रतिनिधित्व ऐसी संस्था में होना ही चाहिये जिसका उद्देश्य विश्व की वास्तविकता की प्रतिच्छाया प्रस्तुत करना है। यदि बिना किसी गम्भीर आन्तरिक विरोध के चीन की कम्युनिस्ट सरकार चीन पर शासन करने की योग्यता दर्शाती है तो वह भी संयुक्त राष्ट्र-संघ में शामिल की जानी चाहिये।"

श्री डलेस के इस कथन और चीन को संयुक्त राष्ट्र-संघ में शामिल न होने देने के पक्ष में उनके द्वारा उपस्थित किये जाने वाले तर्कों में, जमीन आसमान का अन्तर रहा है। परराष्ट्र मन्त्री का पद ग्रहण करने से पूर्व उन्होंने वास्तविकता की समीचीन विवेचना करते हुए उसे स्वीकार किया था किन्तु बाद में अवास्तविकता को ही वास्तविकता सिद्ध करने की कोशिश उन्होंने बारबार की। नेहरूजी ने इसे चीन के प्रति अन्याय समझा। अपनी धारणा के औचित्य को सिद्ध करने के लिए उन्होंने जिन तर्कों का सहारा लिया मूलतः उनका रूप श्री डलेस के उस कथन से भिन्न नहीं रहा जो उनकी पुस्तक "वार आर पीस" से उद्धरित किया गया था। भारत की राज्य सभा में

१८ मई, सन् १६५४ को नेहरूजी ने जो भाषण किया उसमें उनके तर्कों का, जो श्री डलेस की पुस्तक के उद्धरित अंश से मिलते-जुलते हैं, रूप नितान्त स्पष्ट है। नेहरूजी ने कहा था—"प्रारम्भ से ही हम इस बात के लिए इच्छुक रहे हैं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीनी लोक गणतन्त्र को चीन का प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। इस प्रश्न का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है कि हम इसको पसन्द करते हैं या नापसन्द करते हैं। लेकिन हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि संयुक्त राष्ट्र-संघ को वास्तविक अर्थ में विश्व की प्रतिनिधि-संस्था होना है तो उसे मजबूती के साथ शासन करने वाली प्रत्येक सरकार को अपने में शामिल करना ही होगा। यदि ऐसा नहीं होता तो वास्तविकता की दृष्टि से वह प्रतिनिधि-संस्था नहीं रह जाती।........इस समय लन्दन में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन या उसकी एक समिति की बैठक हो रही है। हम यह मान ले—यद्यपि यह मानने का अर्थ बहुत अधिक आशावादी होना होगा—कि समिति में प्रतिनिधित्व प्राप्त देशों के बीच निःशस्त्रीकरण के पक्ष में कोई समझौता हो जाता है और संयुक्त राष्ट्रसंघ उससे सहमति प्रकट करता है। जिन देशों को संयुक्त राष्ट्र-संघ में प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है, वे इससे सहमत क्यों हों? कुछ छोटे देश इससे सहमत हों या असहमत हों तो उसका कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता लेकिन यदि महान् देश चीन इस प्रकार के समझौते से बाहर रह जाता है तो इससे स्थिति में बहुत बड़ा अन्तर आ जायगा—अभी ही नहीं, किन्तु बाद में भी।........प्रत्येक दृष्टि से मुझे यह असाधारण बात लगती है कि चीन की वर्तमान सरकार की उपेक्षा की जाय, उसे संयुक्त राष्ट्र-संघ में शामिल न किया जाय या इस प्रकार का और कोई कार्य किया जाय। चूँकि मैं यह समझता हूँ कि इस तथ्य के परिणामस्वरूप ही गत चार वर्षों में विश्व में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई, इसलिए यह कहता हूँ। किसी के लिए भी संयुक्त राष्ट्र-संघ में यह कहना नितान्त निरर्थक है कि फारमोसा का प्रतिनिधि चीन का प्रतिनिधि है। उसका चीन से कोई सम्बन्ध नहीं है, चीन में उसे कोई अधिकार प्राप्त नहीं है—उसे चीन का प्रतिनिधि बताना स्वयं को धोखा देना है और ऐसे मामलों में स्वयं को धोखा देने का परिणाम बहुत खतरनाक होता है।"

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चीन की मान्यता के सम्बन्ध में यद्यपि नेहरूजी का दृष्टिकोण चीनी लोक गणराज्य की स्थापना के बाद से ही बराबर एक सा रहा तथापि चीन भारत की ओर से कुछ सशंक बना रहा। कोरिया-युद्ध के बन्दियों की अदला-बदली के सम्बन्ध में सम्बन्धित देशों में हुए समझौते के अनुसार तटस्थ-राष्ट्र बंदी-प्रत्यर्पण आयोग के अध्यक्ष-पद पर भारत की प्रतिष्ठा और भारत द्वारा निष्पक्षता के साथ अपने दायित्व का सफल निर्वाह, भारत के प्रति चीन की शङ्का को काफी हद तक दूर करने में सफल हुआ। इसके बाद चीनी लोक गणतन्त्र और सर्वतन्त्र स्वतन्त्र गणराज्य भारत प्रत्यक्षतः एक दूसरे के कुछ निकट आये। निश्चय ही यह पं० जवाहर लाल नेहरू की नीति का ही परिणाम रहा।

कोरिया का प्रश्न

कोरिया युद्ध को समाप्त करने के निमित्त किये जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास के दौरान में चीनी लोक गणतन्त्र और भारत प्रथम बार प्रत्यक्षतः एक दूसरे के निकट आये। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत को निकट से देखने के बाद उसके सम्बन्ध में चीन को अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ा। दक्षिणी कोरिया और उत्तरी कोरिया की सेनाओं के बीच २५ जून, सन् १६५० को युद्ध प्रारम्भ हुआ। तब से लेकर सन् १६५२ तक चीन और उसके प्रबल समर्थक रूस द्वारा भारत पर बराबर यह दोषारोप किया जाता रहा कि वह पश्चिमी देशों के गुट में शामिल है और उनके हाथ की कठपुतली है। किन्तु वस्तुस्थिति यह रही है कि भारत की परराष्ट्र-नीति के नियामक पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने कोरिया के युद्ध से सम्बन्धित प्रत्येक कदम उन बुनियादी सिद्धान्तों के आधार पर ही उठाया जिनके आधार पर उन्होंने चीनी लोक-गणतन्त्र को मान्यता प्रदान की और उसकी अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता की जोरदार वकालत की। सन् १६५२ के बाद भारत को निकट से देखने का अवसर जब चीन को मिला तो उसने यह स्वीकार किया कि भारत और उसके प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू वास्तव में शान्ति को कायम करना चाहते हैं और उनकी तटस्थता पर विश्वास किया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघीय कमान और उत्तरी कोरिया की कमान के बीच हुए समझौते के फलस्वरूप कायम बंदी प्रत्यर्पण आयोग के अध्यक्ष-पद पर भारत की प्रतिष्ठा से यह स्पष्ट है। इस पद को ग्रहण करने के बाद भारत ने अपने कर्तव्य का निर्वाह जिस ईमानदारी से किया, उसके कारण चीन, भारत के और निकट आ गया और दोनों के बीच उस मैत्री का सूत्रपात हुआ जो सन् १६५४ में तिब्बत के सम्बन्ध में हुई सन्धि के रूप में परिपक्व हुई।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है दक्षिणी और उत्तरी कोरिया की सेनाओं के बीच २५ जून, सन् १६५० को युद्ध आरम्भ हुआ। कोरिया-स्थित संयुक्त राष्ट्रसंघ आयोग ने, जिसमें भारत के अतिरिक्त अन्य छः राष्ट्रों के प्रतिनिधि भी शामिल थे, युद्ध प्रारम्भ करने का दोषारोप उत्तरी कोरिया पर किया। इसी दिन अर्थात् २५ जून, सन् १६५० को संयुक्त राष्ट्र-संघ की सुरक्षा परिषद की बैठक हुई जिसमें कोरिया-स्थित संयुक्त राष्ट्र-संघ आयोग के मत की पुष्टि करते हुए उत्तर कोरिया पर शान्ति भङ्ग करने का अभियोग लगाया गया और उत्तरी कोरिया से युद्ध को बन्द करने और अपनी सेना को ३८ वीं आक्षांश रेखा के उत्तरी भाग में वापस बुला लेने को कहा गया। उत्तरी कोरिया ने इस पर ध्यान नहीं दिया। इस पर २७ जून, १६५० को सुरक्षा परिषद ने एक मत से प्रस्ताव स्वीकार कर सदस्य-राष्ट्रों से यह अनुरोध किया कि आक्रमण का प्रतिरोध करने तथा शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिए वे कोरिया गणराज्य (दक्षिणी कोरिया) की सहायता करें।

उपर्युक्त दोनों निर्णयों के सम्बन्ध में भारत का जो मत रहा, वह उसने छिपाया नहीं। प्रसङ्गान्तर्गत साधारणतः इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस सम्बन्ध में भारत का विस्तृत मत उस समुद्री तार में उल्लिखित है जो प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने २६ जून, सन् १६५० को संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्कालीन महामन्त्री श्री ट्रिग्वी ली के पास भेजा था। इसमें कहा गया था कि "भारत सरकार कोरिया की घटनाओं को जिनमें न केवल गृह-युद्ध अन्तर्भुक्त है बल्कि जिनसे विश्व-शान्ति के लिए भी खतरा उत्पन्न हो गया है, अत्यन्त गम्भीर समझती है। भूतकाल में उत्तरी और दक्षिणी कोरिया की सीमाओं पर अनेक घटनाएँ घटती रहीं। इनका स्वरूप चाहे जो रहा हो लेकिन भारत सरकार को जो सूचनाएँ मिलीं, उनसे यह प्रतीत होता है कि उत्तरी कोरिया की सशस्त्र सेनाओं ने व्यापक रूप में दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण किया। यह सूचना भारत को अनेक सूत्रों से प्राप्त हुई। इनमें सबसे अधिक अधिकृत सूचना संयुक्त राष्ट्र-संघ के कोरिया-स्थित आयोग की है जिसमें भारत को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त है। आयोग आक्रमण के काल में सिऊल (दक्षिणी कोरिया की राजधानी) में ही था। इस सूचना पर ध्यान

देते हुए भारत के संयुक्त राष्ट्रसंघ-स्थित स्थायी प्रतिनिधि और सुरक्षा परिषद के सदस्य श्री बी० एन० राव ने सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव का समर्थन किया जिसमें आक्रमण का उल्लेख करते हुए युद्ध बंद करने तथा १८ वीं अक्षांश से अपनी सेनाएँ हटाने के लिए उत्तरी कोरिया से कहा गया है। उत्तरी कोरिया की सरकार ने सुरक्षा परिषद के निर्देश का पालन नहीं किया और उसकी सेनाओं का आक्रमण तब तक जारी रहा जब तक सिऊल के लिए सकट नहीं उत्पन्न हो गया। त्वरित गति से परिवर्तित होने वाली इस स्थिति पर विचार करने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् की बैठक पुनः हुई और उसने २७ जून को दूसरा प्रस्ताव स्वीकार किया (न्यूयार्क टाइम्स)। भारत सरकार का प्रतिनिधि इस प्रश्न पर हुए मत-दान में भाग न ले सका; क्योंकि समय के अंदर इसकी सूचना भारत सरकारको देकर उसका निर्देश वह प्राप्त न कर सका था। इस प्रस्ताव के क्रियात्मक भाग में यह सिफारिश की गयी कि सदस्य-राष्ट्र कोरियाई गणराज्य को ऐसा सहयोग प्रदान करें जो सशस्त्र आक्रमण को रोकने तथा युद्ध-ग्रस्त क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्री शांति और सुरक्षा की स्थापना के लिए आवश्यक हो। कोरिया की घटनाओं और अपनी परराष्ट्र नीति के संदर्भ में भारत ने सुरक्षा परिषद् के इस प्रस्ताव पर भलिभाँति विचार किया। भारत सरकार किसी प्रकार की आक्रमणात्मक कार्रवाई से अन्तर्राष्ट्रीय विवाद को हल करने के प्रयास के विरुद्धहै। इस कारणवश भारत सरकार की ओर से उसके प्रतिनिधि श्री बी० एन० राव ने सुरक्षा परिषद् के प्रथम प्रस्ताव का समर्थन किया। संतोषजनक निपटारे के लिए आक्रमण को रोकना और शीघ्र शांति स्थापित करना आवश्यक है। इसलिए भारत सरकार सुरक्षा परिषद् के दूसरे प्रस्ताव को भी स्वीकार करती है। फिर भी भारत सरकार के इस निर्णय में कोई ऐसी बात शामिल नहीं है जिससे उसकी परराष्ट्र नीति में परिवर्तन होता हो। उसकी यह नीति विश्व-शांति को आगे बढ़ाने और सभी देशों से मैत्री के विकास पर आधारित है। यह स्वतंत्र नीति है जो भारत के आदर्शों एवं लक्ष्यों-द्वारा निश्चित होती रहेगी। भारत सरकार हृदय से यह विश्वास करती है कि वर्तमान

दशा में भी युद्ध को समाप्त करना और समझौते द्वारा विवाद का अंत करना, सम्भव होगा।"[1]

चीनी लोक गणतंत्र ने तत्काल संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् के प्रस्तावों पर कोई मत व्यक्त नहीं किया। रूस के साथ उसका इस मामले में जो सम्बन्ध रहा है तथा रूस जिस प्रकार उसका पक्ष ग्रहण करता रहा है, उसको देखते हुए चीन के रुख का अन्दाज रूस पर हुई उपर्युक्त प्रस्तावों की प्रतिक्रिया के आधार पर लगाया जा सकता है। २७ जून, १९५० को सुरक्षा परिषद द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव की सूचना मिलने पर रूस की सरकार ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के महामंत्री श्री ट्रिग्वी ली को जो पत्र लिखा (२८ जून), वह २९ जून, १९५० के रूस के समाचार पत्र 'प्रावदा' में प्रकाशित हुआ। रूस की सरकार ने लिखा था—"२७ जून को सुरक्षा परिषद् द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव का मसविदा जो आपने भेजा, वह रूसी सरकार को मिला। इसमें दक्षिणी कोरिया के पक्ष में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों के हस्तक्षेप की आवश्यकता बतायी गयी है।

"सोवियत सरकार का कहना है कि यह प्रस्ताव छः मतों से स्वीकृत हुआ। सातवाँ मत कोमितांग के प्रतिनिधि त्सियांग तिंग फू का रहा जिसको चीन का प्रतिनिधित्त्व करने का कोई भी कानूनी अधिकार प्राप्त नहीं है। सयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिकार-पत्र (चार्टर) के अनुसार सुरक्षा परिषद् द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव की वैधता के लिए सात मतों का पक्ष में होना आवश्यक है। इनमें सुरक्षा परिषद् के पाँच स्थायी सदस्य अर्थात् अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, सोवियत संघ और चीन शामिल हैं।

"यह सभी जानते हैं कि जब सुरक्षा परिषद् में उपर्युक्त प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, उस समय परिषद् के दो स्थायी सदस्य—सोवियत संघ और चीन, अनुपस्थित थे। राष्ट्रसंघ के अधिकार-पत्र के अनुसार सुरक्षा परिषद् महत्त्वपूर्ण मामलों के सम्बन्ध में तभी निर्णय कर सकती है जब परिषद् के

---

1. United States Policy in the Korean Crisis—Published by Department of State, United States of America. P. P. 42

पांचों स्थायी सदस्य—अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, सोवियत् संघ और चीन एक मत से उसके पक्ष में अपना मत व्यक्त करें।

"ऊपर लिखी हुई बातों से यह साफ जाहिर है कि कोरिया के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् के निर्णय को कोई कानूनी शक्ति प्राप्त नहीं है।"[1]

रूस के इस पत्र से स्पष्ट हो जाता है कि कोरियाई युद्ध के सम्बंध में भारत का मत रूस और चीन में सही स्वीकार नहीं किया गया। भारत और उसके प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू पर इसका वही प्रभाव न पड़ा जो अन्य पश्चिमी देशों तथा उनके मित्र-राष्ट्रों पर पड़ा। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कोरिया में शांति की स्थापना के लिए स्वतंत्र रूप से अपना प्रयास जारी रखा। सुरक्षा परिषद् के २७ जून, १९५० के प्रस्ताव के अनुसार लगभग तीस राष्ट्रों ने दक्षिणी कोरिया के सहायतार्थ अपनी सैनिक टुकड़िया वहाँ भेजीं लेकिन भारत ने ऐसा नहीं किया। उसने घायलों की सेवा-श्रुषा के लिए एक चिकित्सकीय दल अवश्य भेजा जिसके कार्य की काफी प्रसंशा की गयी।

१३ जुलाई, सन् १९५० को पंडित जवाहर लाल नेहरू ने सोवियत् संघ की कौंसिल आफ मिनिस्टर्स के तत्कालीन अध्यक्ष श्री जे० वी० स्तालिन के नाम एक पत्र भेजा। श्री स्तालिन ने १५ जुलाई को इसका उत्तर नेहरूजी को लिखा। बाद में यह पत्र-व्यवहार प्रकाशित कर दिया गया। नेहरूजी ने अपने उपर्युक्त पत्र में लिखा था—"मास्को में परराष्ट्र मंत्रालय के अधिकारियों के साथ हमारे राजदूत की जो बातें हुई, उसमें उन्होंने कोरिया-विवाद के सम्बंध में भारत के दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया था। युद्ध को कोरिया तक सीमित रखना और सुरक्षा परिषद् में वर्तमान जिच को मिटाकर शीघ्र ही विवाद के शांतिपूर्ण निपटारे के कार्य में सहयोग प्रदान करना ही भारत का लक्ष्य है ताकि चीनी लोक गणतंत्र का प्रतिनिधि सुरक्षा परिषद् में अपना

---

1. American Armed Intervention in Korea—P. P. 16, Published by Reprensentative 'TASS' in India, New Delhi,—1950

स्थान प्राप्त कर सके, सोवियत संघ उसमें पुनः भाग ले और सुरक्षा परिषद् में अथवा उसके बाहर गैर सरकारी सम्पर्क द्वारा सोवियत् संघ, संयुक्तराष्ट्र अमेरिका और चीन, अन्य शान्ति-प्रिय राष्ट्रों की सहायता और सहयोग से युद्ध को बन्द करने का आधार तथा अन्तिम रूप से कोरिया की समस्या के हल का उपाय ढूँढ़ सके। शान्ति को बनाये रखने तथा इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र-संघ की अक्षुण्णता को कायम रखने के सम्बन्ध में आपके दृढ़ संकल्प में पूर्ण विश्वास होने के कारण मैं इस अपील के साथ यह व्यक्तिगत पत्र लिखने का साहस कर रहा हूँ। शान्ति की स्थापना के समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए आप अपने अधिकार और प्रभाव का उपयोग करें। इस पर मानवता की भलाई निर्भर है।''[१]

इसी प्रकार का एक पत्र नेहरूजी ने अमेरिका के तत्कालीन परराष्ट्र मन्त्री श्री अचेसन को भी लिखा था। दोनों पत्रों का कोई व्यवहारिक परिणाम न निकला। सन् १९५० के अन्त में भारत की लोक सभा में अपनी परराष्ट्र नीति का सिंहावलोकन करते हुए नेहरूजी ने स्वयं इसे स्वीकार किया। इसका कारण यह था कि सुरक्षा परिषद ने चीनी लोक गणतन्त्र के प्रतिनिधि को बुलाना कभी स्वीकार न किया। १ अगस्त, सन् १९५० से ३१ अगस्त, १९५० की अवधि में (इस अवधि में सुरक्षा परिषद की अध्यक्षता रूसी प्रतिनिधि ने की थी) रूस के प्रतिनिधि ने चीनी लोक गणतन्त्र के प्रतिनिधि को आमन्त्रित करने का प्रस्ताव भी प्रस्तुत किया किन्तु सुरक्षा परिषद ने उसे ठुकरा दिया। इस पर कशमकश बराबर बनी रही। इसी बीच २५ अगस्त, १९५० को चीनी लोक गणतन्त्र ने सुरक्षा परिषद से यह प्रार्थना भी की कि फारमोसा तथा चीन के अन्य भूभाग से अमेरिका की सशस्त्र सेना को हटाने की कार्रवाई तत्काल की जाय। इसके उत्तर में अमेरिका के प्रतिनिधि ने कहा कि 'फारमोसा के मामले पर विचार किये जाने का हम स्वागत करेंगे।' २९अगस्त, १९५० को रूसी प्रतिनिधि श्री मलिक ने यह प्रस्ताव रखा कि फार-

---

1. American Armed Intervention in Korea P. P. 24-25.

मोसा पर विचार सुरक्षा परिषद के कार्य-क्रम में शामिल किया जाय। इसके सम्बन्ध में भारत के प्रतिनिधि श्री बेंगल नरसिंह राव द्वारा प्रस्तुत शब्दावली (फारमोसा द्वीप पर आक्रमण की शिकायत) ही स्वीकार की गयी।[1]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कोरिया में शान्ति की स्थापना के सम्बन्ध में भारत की ओर से पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने प्रारम्भ में जो प्रयास किया, उसका कोई फल न मिला। फिर भी नेहरूजी ने इसकी उपेक्षा नहीं की और वह स्थिति का अध्ययन गम्भीरतापूर्वक बराबर करते रहे। ६ दिसम्बर, १९५० को भारत की लोकसभा में नेहरूजी द्वारा किये गये भाषण के कोरिया-सम्बन्धी अंश से यह स्पष्ट है। इस भाषण का सम्बन्धित अंश इस प्रकार है—"उत्तरी कोरिया का दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण का मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष प्रस्तुत किया गया। सुरक्षा परिषद ने यह आक्रमणात्मक कार्रवाई मानी। हमने इस निर्णय का समर्थन किया और इसके अनुसार मत दिया। बाद में अन्य बातें भी पैदा हुईं। स्थिति को उत्तरोत्तर जटिल होते देखकर मैंने एक पत्र मार्शल स्टालिन तथा एक पत्र श्री अचेसन को लिखा। यह मध्यस्थता करने का प्रयास न था। हमने इस दृष्टि से कभी सोचा ही नहीं। मैंने इस धुँधली आशा के साथ अपील की कि शायद कोई निश्चित बात सामने आ जाय। पहले पत्र में यह सुझाव था कि चीन संयुक्त राष्ट्रसंघ में शामिल कर लिया जाय और रूस सुरक्षा परिषद का बहिष्कार करना त्याग दे। हमने चीन की सरकार को मान्यता प्रदान की है। इस तथ्य में स्वाभाविक रूप में यह बात निहित है कि जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, हम यह मानते हैं कि चीन को संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक अङ्ग होना चाहिये। जिस सन्दर्भ में मैंने यह सुझाव रखा, उसमें गलत या सही मामले से अधिक जोर वस्तुतथ्य की आवश्यकता पर था। हमारा यह विचार है कि सुदूर पूर्व की समस्या पर सन्तोषपूर्ण ढङ्ग से तभी विचार हो सकता है जब सम्बन्धित देश गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने पर सहमत हो जायँ।

---

1. A Korean Chronology–P. P. 9–Published by the United Nations Department of Informati,ou 1950.

"संयुक्त राष्ट्रसंघ महान् और शक्तिवान् संस्था है। उसके घोषणा-पत्र में उसके आदर्श और उद्देश्य इतनी प्रभावशाली भाषा में उल्लिखित हैं कि उसे और अधिक प्रभावशाली बनाना कठिन है। संयुक्त राष्ट्रसंघ का संघटन छोटे और बड़े सभी राष्ट्रों के लिए किया गया है। हमारा यह विचार था कि कोरिया की समस्या से अत्यधिक सम्बन्ध रखने वाले देश संयुक्त राष्ट्रसंघ में एक दूसरे से मिले। इसके बिना स्थिति के और अधिक खराब होने की सम्भावना थी। सचमुच स्थिति और अधिक खराब हुई भी। इस बात पर ध्यान देते हुए ही मैंने रूस और अमेरिका से अपील की लेकिन दुर्भाग्यवश इसका कोई फलदायक परिणाम न निकला।

"बाद में उत्तरी कोरिया के आक्रमण का अवरोध हुआ। उसकी सेनाएँ पीछे हटा दी गयीं। ऐसा मालूम होने लगा कि वे पूर्णतः विघटित हो गयी हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ पूर्णतः विजयी हुआ प्रतीत होने लगा। वास्तव में यह हुआ भी। इस विजय ने अनिवार्यतः कुछ बुनियादी प्रश्नों को पैदा किया। क्या संयुक्त राष्ट्र-संघ की सेनाओं को बराबर आगे बढ़ते जाना चाहिये ? यदि हाँ, तो उन्हें कहाँ तक आगे बढ़ना चाहिये ? हमने पीकिंग स्थित अपने राजदूत से तथा अन्य देशों में अपने प्रतिनिधियों से परामर्श किया और यह जानना चाहा कि दूसरे देश किस दृष्टि से घटनाओं को देख रहे हैं। चीन के सम्बन्ध में सम्भवतः हमारी विशेष जिम्मेदारी रही है, क्योंकि हम उन थोड़े से देशों में हैं जिनके प्रतिनिधि वहाँ हैं। इसके अलावा सोवियत् गुट के देशों के अतिरिक्त भारत ही एक ऐसा देश है जो यह जान सकता था कि चीन सरकार पर कोरिया की घटनाओं की क्या प्रतिक्रिया हुई है।

"चीन सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि ३८ वीं अक्षांश रेखा को संयुक्त राष्ट्र-संघ की कमान की सेनाओं ने पार किया तो हम इसे अपनी सुरक्षा के लिए गम्भीर खतरा समझेंगे और यह बरदास्त न करेंगे। चीन का रुख गलत था या नहीं, यह विचारणीय नहीं है। अस्तु, यह निर्णय किया गया कि संयुक्त राष्ट्र-संघ की फौजों को ३८ वीं अक्षांश रेखा के आगे बढ़ना चाहिये। संघीय सेनाओं ने यही किया और उसे पुनर्गठित उत्तरी कोरियाई सेना से और बाद में चीन की सेनाओं से युद्ध करना पड़ा। चीन सरकार ने कहा

कि युद्ध में भाग लेने वाले स्वयंसेवक हैं लेकिन प्राप्त सूचनाओं के अनुसार नियमित चीनी सेना के सैनिक युद्धरत हैं।"

कोरिया के मामले में चीन के प्रति नेहरूजी के दृष्टिकोण का और अधिक स्पष्टीकरण करने से पूर्व यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि अगस्त १९५० में सात हजार मील की दूरी तय करके अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, और तुर्की, थाइलैण्ड, फिलिपाइन्स, इथोपिया तथा अन्य देशों की सेनाएँ दक्षिणी कोरिया में पहुँच गयी थीं। इनके वहाँ पहुँचने पर दक्षिणी कोरिया के दक्षिण-पूर्वी भाग में मोर्चेबन्दी हुई और उत्तरी कोरिया की सेना को आगे बढ़ने से रोक दिया गया। अमेरिका के सैनिक और अधिक संख्या में आ गये और साम्यवादियों का मोर्चा भंग कर दिया गया।

७ अगस्त, १९५० को संयुक्त राष्ट्र-संघ की साधारण सभा ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसमें संयुक्त और स्वतन्त्र कोरिया की स्थापना का निश्चय व्यक्त किया गया था। इसके फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेनाओं ने उत्तर दिशा में और आगे बढ़ना शुरू कर दिया। नतीजा यह हुआ कि अक्तूबर, १९५० का अन्त होते-होते चीनी सैनिक जिन्हें चीन ने स्वयंसेवकों की संज्ञा प्रदान की, युद्ध में कूद पड़े। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना प्रतिरोध करने में असफल रही और उसे ३८ वीं आक्षांश से पीछे हटना पड़ा। इस प्रकार कोरिया के विवाद में चीनी लोक गणतन्त्र प्रत्यक्षतः सामने आ गया।

युद्धाग्नि की लपटें बराबर बढ़ती गयीं। भारत की ओर से पुनः इन्हें शान्त करने का प्रयास किया गया। ५ दिसम्बर, १९५० को भारत के सुझाव पर "तेरह एशियाई देशों ने संयुक्त रूप से कम्युनिस्टों से अपील की कि वे अपनी सेनाएँ ३८ वीं आक्षांश रेखा के आगे न बढ़ने दें। लेकिन इस पर तनिक भी ध्यान न दिया गया।"[1] पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने लोक-सभा में भाषण

---

1. Oral Report by the Secretary of State (America) delivered before the Political & Security Committee of United Nations General Assembly–Oct.—24, 1952.

करते हुए उपर्युक्त प्रयास का उल्लेख इस रूप में किया था—"लेक सक्सेस-स्थित हमारे प्रतिनिधि ने [illegible] एशियाई देशों के प्रतिनिधियों से परामर्श करने के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ में यह प्रस्ताव रखा कि चीन सरकार से विराम संधि करने के लिए राजी होने और यह आश्वासन देने को कहा जाय कि चीनी सेनाएँ ३८ वीं अक्षांश रेखा पार न करेंगी।...........हमारे प्रतिनिधि श्री बी० एन० राव ने यह प्रस्ताव रखा और प्रायः सभी एशियाई देशों ने उसका समर्थन किया। मालूम नहीं कि चीन सरकार की प्रतिक्रिया क्या होगी लेकिन हम अपने प्रतिनिधि द्वारा उठाये गये कदम का स्वागत करते हैं।" [१]

इसके बाद अक्तूबर, सन् १९५१ तक का कोरियाई युद्ध का इतिहास आरोपों और प्रत्यारोपों से भरा पड़ा है। अमेरिका और उसके साथी-राष्ट्र संयुक्त राष्ट्रसंघ की मोहर के साथ जिस बात को कहते, रूस और उसके मित्र-राष्ट्र उसे ठुकरा देते। यही दशा रूस द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावों को भी होती। सुदूर पूर्व में युद्ध का संकट दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा था। इस संकट की ओर से नेहरूजी ने कभी आँखें नहीं फेरी। इसके साथ ही इसके मूल कारण के सम्बंध में भी उन्होंने अपने मत में परिवर्तन नहीं किया। उन्हें जब-जब अवसर मिला, तब-तब उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि चीनी लोक गणतंत्र के प्रतिनिधी को संयुक्त राष्ट्रसंघ में शामिल करने से कोरिया की समस्या को सुलझाना आसान होगा। सन् १९५१ के प्रारम्भ में उन्होंने एक बार पुनः इस ओर विश्व का ध्यान आकृष्ट किया और कहा कि "आज सबसे अधिक प्रबल समस्या सुदूर पूर्व में शांति की स्थापना की है। कई मास से कोरिया में पैशाचिक युद्ध हो रहा है जिसमें हजारों निर्दोष व्यक्ति कुरबान हो चुके हैं। मेरे विचार में यह सत्य है कि उत्तरी कोरिया की ओर से आक्रमण हुआ लेकिन यह भी सत्य है कि सभी सम्बंधित देशों में कोई भी पूर्णतः निर्दोष नहीं है। पिछले साल से या इससे भी अधिक समय से हम यह अनुरोध करते रहे हैं कि लेक सक्सेस की विश्वपरिषद् में चीनी गणतंत्र को भी स्थान दिया जाना चाहिये लेकिन ऐसा नहीं हुआ और अब अधिकतर लोग यह महसूस

---

१. पार्लियामेण्ट में नेहरू जी का भाषण—७ दिसम्बर, १९५०।

करते हैं कि चीन से सम्बंधित स्पष्टतः नजर आने वाला तथ्य यदि स्वीकार कर लिया जाता तो विश्व की स्थिति आज की स्थिति से भिन्न होती।''[1]

जैसा कि होता रहा, इस भाषण का अपेक्षित प्रभाव भी कोरिया युद्ध से सम्बद्ध बड़े राष्ट्रों पर न पड़ा। इसके बावजूद शांति-स्थापना के प्रयास के पक्ष में भारत की स्थिति सुदृढ़ होती गयी और लगभग दो वर्षों के बाद इसका शुभ परिणाम सांकेतिक रूप में साफ-साफ नजर आने लगा।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् के रूसी प्रतिनिधि श्री जेकब मलिक का एक भाषण युद्ध-विराम वार्ता के सम्बन्ध में २३ जून, सन् १९५१ को न्यूयार्क रेडियो से सुनाया गया। इस भाषण में श्री मलिक ने कहा था कि ''सोवियत जनता यह विश्वास करती है कि आज की सर्वाधिक जटिल समस्या, कोरिया में सशस्त्र संघर्ष की समस्या भी सुलझायी जा सकती है। सोवियत जनता का यह विश्वास है कि प्रथम चरण के रूप में युद्ध-बन्दी की वार्ता युद्धरत राष्ट्रों के बीच प्रारम्भ होनी चाहिये।'' यह महत्त्वपूर्ण घोषणा थी। इसकी ओर सभी राष्ट्रों का ध्यान आकृष्ट हुआ। इसके बाद ही मास्को-स्थित अमेरिकी दूत ने श्री ग्रोमिको से भेंट की और श्री मलिक के उपर्युक्त भाषण का स्पष्टीकरण चाहा। श्री ग्रोमिको ने बताया कि विराम-संधि वार्ता में दो बातें होनी चाहिये (१) युद्ध-बंदी और (२) केवल सैनिक प्रश्नों पर विचार। इसमें राजनीतिक और क्षेत्रिय समस्याएँ शामिल न की जानी चाहिये। इस स्पष्टीकरण के बाद कोरिया में संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेना के प्रधान जेनरल रिजवे ने कम्युनिस्ट कमान से संपर्क स्थापित किया और पानमुनजान में विराम-सन्धि वार्ता प्रारंभ करने की तैयारी की गयी। इस प्रयास में पहले तो विचारणीय विषयों की सूची तैयार करने की समस्या पर ही काफी चख-चख हुई। अन्ततः चौदह दिनों की वार्ता के बाद कार्य-सूची का निर्धारण हो सका। इसमें मुख्यतः दो बातें थी—(१) कोरिया में युद्ध बन्द करने की मूल शर्त के रूप में असैनिक क्षेत्र के निर्धारणार्थ सैनिक हदबन्दी की रेखा निश्चित करना और

---

१. २४ जनवरी, सन् १९५१ को आल इण्डिया रेडियो के दिल्ली स्टेशन से ब्राडकास्ट किया गया नेहरू जी का भाषण।
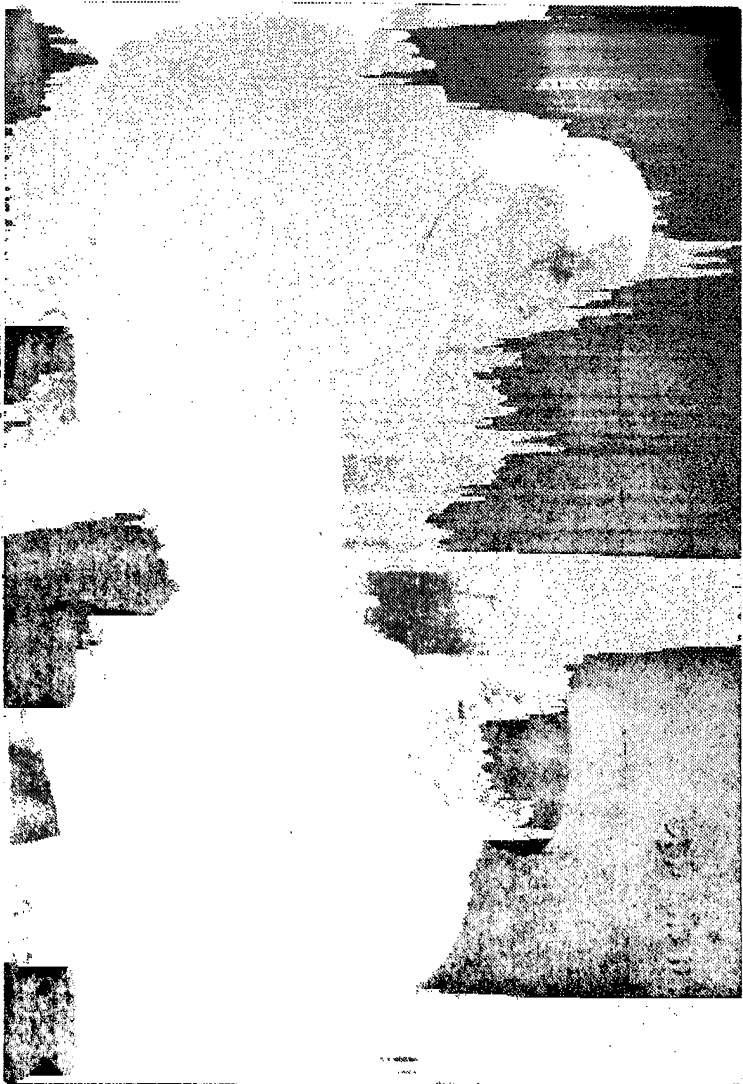
नेहरू और माओ का भव्य मिलन.

चीन के बौद्ध नेताओं के साथ पं० नेहरू

(२) युद्ध-बन्दी और विराम सन्धि की शर्तें पूरी करने के लिए निश्चित व्यवस्था करना जिसमें इसका निरीक्षण करने वाली संस्था के संघटन, उसके अधिकार और कार्य का निर्देश शामिल होगा।

सैनिक हदबन्दी की रेखा निश्चित करने में ही पूरे चार मास का समय व्यतीत हो गया। अन्त में २७ नवम्बर, सन् १९५१ को यह समस्या हल हो सकी। दूसरी समस्या का मामला पुनः उलझ गया। अनेक राजनीतिक प्रश्न सामने आ गये। उतार-चढ़ाव प्रारम्भ हो गया। किसी प्रकार इस आधार पर विराम सन्धि का मामला तय हो सका कि सन्धि के लागू होने के तीन मास के बाद आपसी बातचीत के द्वारा कोरिया से विदेशी सेनाओं को हटाने तथा शान्तिपूर्ण ढंग से कोरिया की समस्या हल करने के लिए उच्च-स्तर पर राज-नीतिक सम्मेलन आयोजित हो। विषय-सूची का पहला कार्य समाप्त करने में जहाँ चार मास लगे, वहीं दूसरा कार्य उपयुक्त रूप में पाँच मास के बाद पूरा हो सका। इसके बाद तो झगड़ा लम्बा हो गया। युद्ध-बन्दियों को हटाने के प्रश्न को लेकर मामला बुरी तरह उलझ गया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि युद्ध की आग पुनः भड़क उठेगी। एक ओर यह स्थिति थी, दूसरी ओर संयुक्त राष्ट्रसंघ में वाक् - युद्ध जारी था। स्थिति को खराब न होने देने की चेष्टा में भारत ने पुनः महत्त्वपूर्ण भाग लिया।

१६ अक्टूबर, सन् १९५२ को होने वाली संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा की ३८०वीं बैठक में संघ के सातवें अधिवेशन में विचारार्थ प्रस्तुत किये जाने वाले विषयों की जो सूची निश्चित की गयी, उसमें कोरिया की समस्या भी शामिल थी। इसके अनुसार ३ दिसम्बर, सन् १९५२ को साधारण सभा के प्रारम्भिक अधिवेशन में कोरिया की समस्या सामने आयी। सर्व प्रथम संयुक्त राष्ट्रसंघ के कोरिया कमीशन की रिपोर्ट सामने आयी। इस पर विचार व्यक्त करते समय कोरियाई गणराज्य के प्रतिनिधि ने जिसे विचार-विमर्श में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया गया था, रिपोर्ट के कई अंशों की आलोचना की। अन्य प्रतिनिधियों ने संक्षेप में अपने विचार व्यक्त किये। बहस मुख्यतः इन बातों तक सीमित थी—(१) कोरियाई प्रश्न का पहला इतिहास और विशेषतः वहाँ युद्ध प्रारम्भ करने की जिम्मेदारी, (२) पानमुनजान वार्ता की

प्रगति और वहाँ वार्ता में जिच उत्पन्न होने की जिम्मेदारी किस पर एवं (३) युद्ध-बन्दियों की वापसी का मामला। बहस में भाग लेने वाले अधिकतर प्रतिनिधियों ने यह मत व्यक्त किया कि "कोरिया की समस्या में अन्तर्भुक्त राजनीतिक मामलों पर बहस करने से पूर्व कोरिया में युद्ध को रोकना आवश्यक है और विराम-सन्धि के मार्ग में बाधक दिखाई देने वाला सर्वप्रमुख प्रश्न युद्धबन्दियों की वापसी का ही है।" इस प्रश्न पर ही सर्वप्रथम विचार प्रारंभ हुआ। प्रथमतः साधारण सभा की राजनीति समिति में जिसकी बैठक २३ अक्टूबर से २ दिसंबर, १९५२ तक हुई, कोरियाई युद्धबन्दियों की वापसी के प्रश्न पर पाँच प्रस्तावों के प्रारूप पेश किये गये। इनमें पहला प्रस्ताव संयुक्त रूप से इक्कीस राष्ट्रों द्वारा प्रस्तावित था जिनमें ब्रिटेन, अमेरिका और आस्ट्रेलिया आदि शामिल थे। दूसरा प्रस्ताव सोवियत रूस का, तीसरा मेक्सिको का, चौथा पेरू का और पाँचवाँ भारत का था। भारत के प्रस्ताव में दोनों पक्षों की बातें रखने की चेष्टा की गयी थी, अतः सबसे पहले इस पर ही विचार करने का निर्णय समिति ने किया।[1] १ दिसंबर १९५२ को संशोधित रूप में भारत का प्रस्ताव बहुमत द्वारा स्वीकार कर लिया गया लेकिन उसका परिणाम कुछ भी नहीं निकला; क्योंकि रूस इससे सहमत न हुआ।

यद्यपि उपर्युक्त प्रस्ताव पेश करने से पूर्व भारत ने कोरियाई युद्ध से संबन्धित सभी देशों की राय ले ली थी और यथासाध्य सब के मत को प्रस्ताव में अधिक से अधिक स्थान देने का प्रयास किया था, तथापि रूस और उसके समर्थक राष्ट्रों ने उसे स्वीकार नहीं किया। लगभग अढ़ाई मास के बाद उपर्युक्त प्रस्ताव के संदर्भ में नेहरूजी ने कोरियाई समस्या का उल्लेख जिस रूप में किया, उसमें प्रस्ताव की पृष्ठभूमि का विवरण भी मिलता है। नेहरूजी ने कहा था—"सुदूर पूर्व की समस्याओं पर विचार संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यक्रम में शामिल है। राष्ट्रसंघ के आगामी अधिवेशन में इन पर विचार होगा। मैं

1. Year Book of the United Nation's 1952—P. P. 179.

अभी यह नहीं कह सकता कि उस समय हमारे प्रतिनिधि को क्या कहना होगा, क्योंकि आगामी दो-तीन सप्ताह के अन्दर घटने वाली घटनाओं पर ही सब कुछ निर्भर होगा। फिलहाल इतना ही कहा जा सकता है कि मोटे तौर पर वह उसी नीति का अनुसरण करेंगे जो नीति हमारी है। मैं संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत के द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले प्रस्ताव के सम्बन्ध में संक्षेप में कुछ कहना चाहता हूँ। जब से कोरियाई युद्ध आरम्भ हुआ है, तब से इसकी समस्या के साथ भारत का गहरा सम्बन्ध रहा है। यह इसलिए नहीं कि हम दूसरों के मामले में हस्तक्षेप करना चाहते हैं या किसी को धमकी देना चाहते हैं, बल्कि इसलिए कि समस्या को सुलझाने में सहायता करने की दृष्टि से अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा हमारी स्थिति अधिक अच्छी है। वहाँ संघर्ष-रत राष्ट्रों से हमारा सम्बन्ध मित्रतापूर्ण है। हमने कोरिया की विपत्ति-ग्रस्त जनता के प्रति अपनी जिम्मेदारी महसूस की और यह प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई कि कोरिया का सर्वनाश और ध्वंस किसी भी मूल्य पर रोका जाना चाहिये।"

"मैं पिछला इतिहास नहीं दोहराना चाहता। हमने अनेक कदम उठाये जिनका फल तत्काल नहीं मिला लेकिन बाद में जिन्हें सही मान लिया गया। सुदूर पूर्व की स्थिति के सम्बन्ध में सबसे पहले हमारा ध्यान जिस बात पर जाता है, वह है आज की अस्वाभाविक स्थिति। जब तक महान् देश चीन से वार्ता नहीं की जाती, तब तक कोई प्रभावकारी कार्य पूरा नहीं हो सकता। यही कारण है कि हमने प्रारम्भ में ही चीन को मान्यता प्रदान की और संयुक्त राष्ट्रसंघ एवं उसके बाहर अन्य देशों से भी इस नीति को बिना इस बात पर ध्यान दिये अपनाने का अनुरोध किया कि वे चीन की नीति पसन्द करते हैं या नहीं। चीन-सम्बन्धी तथ्य बिलकुल साफ हैं और मैं समझता हूँ उसे मान्यता न प्रदान करना बुनियादी रूप में संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र और उसकी भावनाओं का उलंघन करना है। कोई भी यह नहीं कह सकता कि संयुक्त राष्ट्रसंघ से एक ही नीति का अनुसरण करने वाले राष्ट्रों के प्रतिनिधित्व की आशा की जाती है। दुर्भाग्यवश संयुक्त राष्ट्रसंघ में यह धारणा घर करती जा रही है। परिणामतः चीन ऐसे विशाल राष्ट्र से इस प्रकार का व्यवहार किया गया मानो उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है और चीन से दूर स्थित

द्वीप को चीन का प्रतिनिधि मान लिया गया है। यह असाधारण बात है। मेरी समझ में यह तथ्य ही सुदूरपूर्व की समस्या का मूल है। वास्तविकताओं की उपेक्षा स्वाभाविक रूप में अस्वाभाविक नीति और कार्यक्रम की ओर ले जाती है। यही हो रहा है।

"कुछ मास पूर्व संयुक्त राष्ट्रसंघ में कोरिया-सम्बन्धी प्रस्ताव पेश करने से पूर्व हम लगातार चीन, युनाइटेड किंगडम, संयुक्तराष्ट्र अमेरिका तथा अन्य राष्ट्रों की सरकारों के सम्पर्क में रहे। हम ऐसा कोई कदम नहीं उठाना चाहते थे जिससे अन्य राष्ट्रों को कुछ परेशानी महसूस होती; क्योंकि इससे सहयोग की हमारी आकांक्षाओं के मार्ग में ही कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जातीं। कभी-कभी हम एक राष्ट्र को दूसरे के दृष्टिकोण से भी अवगत करा देते; इसके फलस्वरूप हम काफी हद तक चीन की दृष्टि के अनुकूल प्रस्ताव बना सकने में सफल हुए। मैं यह नहीं कहता कि इसमें शत प्रतिशत चीन की दृष्टि का उल्लेख है लेकिन निश्चय ही इसमें उसके विचारों का प्रतिनिधित्त्व करने की कोशिश की गयी है। इसकी मुख्य बात यह है कि बन्दियों की अदला-बदली के मामले पर जनेवा कंवशेसन पर अमल करना चाहिये।

"दूसरी बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि यह प्रस्ताव केवल बंदियों की अदला-बदली के सम्बन्ध में था। जो यह जानना चाहते हैं कि युद्ध-बंदी का उल्लेख इसमें क्यों नहीं है, वह विवाद के तथ्य को भूल जाते हैं। सब जानते हैं कि इससे पूर्व डेढ़ वर्ष से पानमुनजान में संधि-वार्ता हो रही थी। बड़ी मुश्किल से बंदियों की अदला-बदली को छोड़ कर अन्य मामलों के सम्बन्ध में समझौता हो सका। स्पष्ट है कि विराम संधि का पहला लक्ष्य युद्ध-विराम था। समझौते का प्रथम परिणाम भी यही रहा। इसलिए अब तक के अनिर्णीत प्रश्न को हमने लिया। यह भी उस समझौते के अधीन जिसके सम्बन्ध में करार हो चुका था। प्रस्ताव तैयार करने से पूर्व उन सिद्धान्तों पर, जिन पर वह आधारित है, विस्तार से विचार कर लिया गया था। नवम्बर के प्रारम्भ में इन सिद्धान्तों की सूचना चीनी लोक गणतन्त्र को उसकी राय जानने के निमित्त दे दी गयी थी। याददाश्त के आधार पर मैं कह रहा हूँ कि कुछ समय पूर्व हमें यह सूचित किया गया था कि उन पर सावधानी से विचार

किया जा रहा है । मैं यह कह सकता हूँ कि अनेक अवसरों पर हम विभिन्न राष्ट्रों द्वारा जिनमें चीन भी शामिल है, धैर्य के साथ शान्ति-स्थापना की चेष्टा करते रहने के लिये प्रोत्साहित किए गए । हमारा यह इरादा नहीं रहा कि जहाँ हमारी पूछ न हो, वहाँ भी हम जायँ । यह सत्य है कि चीन सरकार ने हमसे सहयोग करने का वादा नहीं किया लेकिन यह भी झूठ नहीं है कि उसने ऐसा करने से इनकार भी नहीं किया । हमने यह महसूस किया कि किसी प्रकार की आपत्ति के बिना हम अपने प्रयास में आगे बढ़ सकते हैं । यह गलत निर्णय हो सकता है लेकिन फिर भी हमने काफी प्रगति की । जिन सिद्धान्तों को हमने निर्धारित किया उनमें और प्रस्ताव में कोई बड़ा अन्तर न रहा; फिर भी सम्बन्धित देशों के पास हमने उसे भेजा । प्रस्ताव को पेश किये कुछ दिन बीत चुके हैं । सदन को याद होगा, पहली प्रतिक्रिया यह हुई कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने इससे असहमति प्रकट की और तत्काल इसे अस्वीकार कर दिया । तब हमें यह ज्ञात न था कि रूस और चीन की प्रतिक्रिया क्या होगी । अन्त में उन्होंने हमें सूचना दी कि हम इसे स्वीकार नहीं कर सकते । कुछ लोगों की राय में इस पर हमें प्रस्ताव वापस ले लेना चाहिए था । यह सत्य है कि केवल किसी प्रस्ताव को स्वीकार करने से ही कुछ हो नहीं जाता, यदि लक्ष्य समझौता करना न हो । हमने यह महसूस किया । लेकिन दूसरी ओर बहुत से विकल्प भी न थे । संयुक्त राष्ट्रसंघ में हमारे द्वारा प्रस्ताव प्रस्तुत किये जाने से पूर्व बहुत से दूसरे लोगों का रुख आक्रामणात्मक रहा और निस्सन्देह उन्होंने स्थिति अधिक खराब कर दी होती । यदि ऐसा अवसर आता तो हम उनसे सहमति न प्रकट करते और हमारा मत उनके विरुद्ध होता । रूस या पूर्वी यूरोप के किसी अन्य राष्ट्र द्वारा प्रस्तावित प्रस्ताव में तत्काल युद्ध-विराम पर जोर दिया गया था । हमने युद्ध-विराम का स्वागत ही किया होता लेकिन स्पष्ट था कि यह प्रस्ताव स्वीकर न होगा । अनेक राष्ट्रों ने यह महसूस किया कि पूरे एक वर्ष की बहस के बाद और युद्ध के दबाव के बावजूद बंदियों-सम्बन्धी मामला तय न हुआ तो युद्ध-विराम के बाद भी यह तय न होगा । इसलिए उन्होंने वार्ता तब तक जारी रखने के कार्य को तरजीह दी जब तक सभी सम्बन्धित देशों के सन्तोष के अनुकूल अन्तिम रूप से निर्णय न हो जाय ।

जहाँ तक हमारे प्रस्ताव का सम्बन्ध था, यह कठिन कार्य था। इसका व्यापक रूप से समर्थन हुआ लेकिन दुर्भाग्यवश कुछ प्रमुख सम्बन्धित देश इससे सहमत न हुए।"[१]

संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले प्रस्ताव के सम्बन्ध में जो भाव नेहरूजी ने फरवरी, १९५३ के में व्यक्त किये, अगले दो मास के अन्दर ही उनकी यथार्थता भी सिद्ध हो गयी और आगे चल कर प्रायः सभी राष्ट्रों ने जिनमें रूस भी शामिल था, मुक्त कण्ठ से भारत के प्रयास की सराहना की। भारत-स्थित सोवियत राजदूत (सितम्बर, १९५३) श्री ईवान ए० बेनेदिक्तोवने मास्को लौट कर ३ अक्तूबर, १९५३ को कहा था—"कोरिया का युद्ध समाप्त करने में भारत सरकार ने बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। यह असंदिग्ध है। एशिया में शान्तिपूर्ण निपटारे की कारवाई में भारत का जो भाग हो सकता है, उसके महत्त्व को नजर अन्दाज करना कठिन है।"

विराम-सन्धि के सम्बन्ध में पानमुनजान में चलने वाली वार्ता अन्ततः अप्रैल, १९५३ में सफल होती दिखाई दी। बीमार और घायल बंदियों की अदला-बदली के समझौते पर दोनों पक्षों ने ११ अप्रैल, १९५३ को हस्ताक्षर कर दिये। इसके फलस्वरूप शेष बातों के सम्बन्ध में समझौता होने की आशा कुछ प्रबल हुई लेकिन शीघ्र ही गुटबंदी जन्य अन्तर्राष्ट्रीय तिकड़मबाजी के फलस्वरूप पुनः निराशा के बादल मँडराते नजर आने लगे। संयुक्त राष्ट्र-संघ की ओर से विराम-सन्धि वार्ता में भाग लेने वाले प्रमुख अधिकारी लेफ्टिनेण्ट जेनरल विलियम हैरीसन ने यह प्रस्ताव रखा कि विराम सन्धि समझौते के अन्तर्गत अपने देश में लौटने से इनकार करने वाले बंदियों के निष्पक्ष संरक्षक के रूप में पाकिस्तान नियुक्त किया जाय (४ मई, १९५३)। निष्पक्ष संरक्षक के रूप में पाकिस्तान की नियुक्ति के प्रस्ताव को कम्युनिस्ट प्रतिनिधियों ने न तो स्वीकार किया, न अस्वीकार। इस दिन वार्ता दूसरे दिन के लिए स्थगित हो गयी। इसके पश्चात् ही घटनाओं की गति की दिशा में ऐसा

---

१. पार्लिमेण्ट के समक्ष राष्ट्रपति के भाषण पर हुई बहस में नेहरूजी का भाषण—१७ फरवरी, १९५३।

परिवर्तन हुआ कि रूस और चीन तो भारत की ओर झुक गये किन्तु अमेरिका उससे खिंच गया। यह भारत और चीन के पारस्परिक सम्बन्ध का महत्त्वपूर्ण अध्याय तो है ही, साथ ही भारत की विकासशील परराष्ट्र-नीति का भी परिचायक है।

पाकिस्तान को संरक्षक-राष्ट्र बनाने के प्रस्ताव का यद्यपि कम्युनिस्ट प्रतिनिधियों ने स्पष्टतः प्रतिवाद नहीं किया किन्तु प्रकारान्तर से किया उन्होंने यही। ६ मई, १९५३ को प्रमुख कम्युनिस्ट प्रतिनिधि जेनरल नाम इल ने लेफ्टिनेण्ट जेनरल विलियम हैरिसन के प्रस्ताव के मुकाबिले में अपना एक अष्ट सूत्रीय प्रस्ताव उपस्थित कर दिया। इसकी प्रतिक्रिया भी कम दिलचस्पी नहीं थी। इसके सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदर कार्यालय से प्रेस्ट ट्रस्ट आफ इण्डिया के संवाददाता द्वारा प्रेषित समाचार में कहा गया था—"अष्टसूत्रीय कम्युनिस्ट प्रस्ताव के अध्ययन की तत्काल यहाँ यह प्रतिक्रिया हुई कि यह संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा द्वारा ३ दिसम्बर, १९५२ को स्वीकृत भारतीय प्रस्ताव के सदृश्य ही है। इस प्रस्ताव के कई अंश अक्षरशः भारतीय प्रस्ताव से ले लिये गये हैं।"[1] अस्तु, वार्ता का क्रम जारी रहा और अंत में ८ जून, १९५३ को बंदियों की अदला-बदली के लिए तटस्थ राष्ट्र वापसी आयोग की नियुक्ति के सम्बन्ध में समझौता हो गया। इस समझौते के अनुसार भारत को जो दायित्त्व सौंपा गया, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों पक्षों का विश्वास अर्जित करने में उसे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। समझौते में यह स्वीकार किया गया कि तथस्थ राष्ट्र वापसी आयोग में भारत, स्वीडन, स्वीट्जरलैण्ड, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया का एक-एक प्रतिनिधि रहेगा। शान्ति बनाये रखने के लिए केवल भारत ही कोरिया में अपने सैनिक नियुक्त करेगा और आयोग का अध्यक्ष भी वही होगा। इस दायित्त्व का निर्वाह भारत ने जिस प्रकार किया, वह इतिहास की अभूतपूर्व घटना है और यथास्थान उसका उल्लेख किया जायगा। यहाँ पहले यह बताना आवश्यक है कि उपर्युक्त विकट प्रश्न पर समझौता होने से शान्ति स्थापना की

---

1. Amrit Bazar Patrik‿ (Alld ·Edition)th May 1953

आशा शत-प्रतिशत दृढ़ हो गयी और लगभग डेढ़ मास बाद वह फलवती भी हुई। २७ जुलाई, १६५३ को संयुक्त राष्ट्रसंघ की ओर से जेनरल विलियम हैरिसन तथा कम्युनिस्टों की ओर से जेनरल नामइल ने पानमुनजान में ०६–३५ बजे (भारतीय समय) विराम सन्धि समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये। इस समझौते के अनुसार ही यह तय किया गया कि कोरिया की समस्या को अन्तिम रूप में हल करने के लिए सम्बन्धित देशों का राजनीतिक सम्मेलन बुलाया जाय। जब यह निश्चित करने का समय उपस्थित हुआ कि राजनीतिक सम्मेलन में कौन-कौन से देश भाग लें, तब भारत पुनः एक बार और सामने आ गया लेकिन विचित्र परिस्थितियों में। इस सम्बन्ध में होने वाली वार्ता में रूस और चीनी गणराज्य ने इस बात की पूरी चेष्टा की कि भारत को भी राजनीतिक सम्मेलन में आमन्त्रित किया जाय लेकिन अमेरिका ने किसी की एक न चलने दी। सर्व प्रथम संयुक्त राष्ट्रसंघ में अमेरिका के प्रमुख प्रतिनिधि श्री हेनरी कैबेट लाज ने राजनीतिक सम्मेलन में भारत और रूस को शामिल किये जाने के सुझाव का विरोध किया। अमेरिका की इस नीति की भर्त्सना 'न्यूयार्क पोस्ट' ऐसे पत्र को भी करनी पड़ी। उसने इसकी टीका करते हुए लिखा कि "कोई भी, जिसका होश दुरुस्त हो, इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता कि कोरिया की घटनाओं से भारत और रूस का सम्बन्ध नहीं है।" एक ओर यह स्थिति थी और दूसरी ओर रूस भारत के पक्ष में प्रस्ताव पेश कर रहा था। संयुक्त राष्ट्रसंघ की राजनीतिक समिति में १८ अगस्त, १६५३ को सोवियत यूनियन की ओर से उसके प्रतिनिधि श्री विशिंस्की ने यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि कोरियाई सम्मेलन में अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, सोवियत यूनियन, कम्युनिस्ट चीन, भारत, पोलैण्ड, स्वीडन, बर्मा, उत्तरी कोरिया और दक्षिणी कोरिया भाग लें।" संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने भारत को शामिल करने का विरोध करने का निर्णय किया। उसके इस निर्णय की ब्रिटेन और पेरिस तक में कड़ी टीका की गयी। पश्चिमी एशिया के उन देशों ने भी जो स्पष्टतः अमेरिका के प्रभाव में थे, इस पर खेद प्रकट किया। २५ अगस्त, १६५३ को राजनीतिक समिति में हुई बहस में भाग लेते हुए इराक

के प्रतिनिधि श्री अवानी खलीदी ने कहा था कि "भारत की उपस्थिति से सफलता मिलने की आशा बढ़ जायगी।" अन्य अनेक राष्ट्रों ने भी भारत को सम्मेलन में शामिल करने का समर्थन किया। शांति की नीति के समर्थक भारत ने अमेरिका के हठ को देखकर और यह देखकर कि पाकिस्तान भी उसका विरोध कर रहा है, स्वयं ही मैदान से हट जाना उचित समझा। २८ अगस्त, १९५३ को अप्रत्याशित रूप में उसने अपना नाम वापस लेकर इस विवाद को समाप्त कर दिया और प्रत्यक्ष रूप से अन्तिम रूप में शान्ति-वार्ता का मार्ग प्रशस्त कर दिया। अमेरिका द्वारा भारत के विरोध का कारण उसके परराष्ट्र मंत्री श्री डलेस के शब्दों में यह था—"कोरिया में अन्य संयुक्त राष्ट्रों का साथ न देने का मूल्य भारत को इस रूप में चुकाना पड़ा कि वह कोरियाई राजनीतिक सम्मेलन में शामिल नहीं किया गया।" अस्तु, अमेरिका का रुख यद्यपि प्रतिशोधात्मक था, तथापि भारत ने इस पर ध्यान नहीं दिया और उसने अपने इस मूलभूत मन्तव्य को नहीं बदला कि 'चीनी लोक गणतंत्र से समझौता किये बिना कोरिया की समस्या हल नहीं हो सकती।'

कोरियाई राजनीतिक सम्मेलन के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ में कोई निर्णय न हो सका। अन्ततः फरवरी, १९५४ में चार बड़े राष्ट्रों-अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और फ्रांस के विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन बर्लिन में हुआ और इसके निर्णयानुसार कोरिया तथा हिन्दचीन की समस्याओं पर पृथक्-पृथक् से विचार करने के लिए जनेवा में २६ अप्रैल १९५४ से २१ जुलाई, १९५४ तक संबन्धित राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ। इसके फलस्वरूप हिन्दचीन में तो युद्ध रुक गया किन्तु कोरिया के मामले में कोई प्रगति नहीं हुई। भारत को इसमें शामिल होने के लिए आमन्त्रित नहीं किया गया था किन्तु गैररस्मी तरीके से भारत के प्रतिनिधि श्री कृष्ण-मेनन ने दोनों सम्मेलनों को सफल बनाने के लिए जो प्रचण्ड प्रयास किया, इतिहास में उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसके फलस्वरूप भारत और चीन एक दूसरे के और अधिक निकट आ गये। चीन के प्रधान मन्त्री और परराष्ट्र मन्त्री श्री चाओ एन लाई ने ११ अगस्त, १९५४ को चीन की केन्द्रीय लोक सरकार की परिषद के ३३वें अधिवेशन में वैदेशिक मामलों की जो रिपोर्ट पेश की, उसमें भारत के उपर्युक्त प्रयास की सराहना की गयी है।

रिपोर्ट में कहा गया है कि "कोलम्बो शक्तियों ने, खासतौर पर भारत ने हिन्द-चीन विराम-सन्धि सम्पन्न करानेके लिए जो कोशिशें की, उसका जनेवा सम्मेलन की सफलता में काफी योग रहा है।"[1]

कोरिया में शांति स्थापित कराने तथा चीन के महत्त्व को बराबर प्रकाश में लाते रहने के भारत के प्रयास की कहानी अधूरी रह जायगी यदि कोरिया में तटस्थ राष्ट्र वापसी आयोग के अध्यक्ष के रूप में भारत के सैनिकों के महत्त्व-पूर्ण कार्य का उल्लेख न किया जायगा। २७ जुलाई, १९५३ के समझौते के अनुसार भारत ने कोरिया में संरक्षक सेना भेजने का उत्तरदायित्त्व वहन करना स्वीकार कर लिया था। ५ अगस्त, १९५३ को उसने अपना अग्रिम दस्ता कोरिया में भेजा। उस दूरस्थ देश में जाकर भारतीय सैनिकों ने समझौते का पालन कराने के लिए पूर्ण निष्पक्षता के साथ जो कार्य किया, इतिहास में उसकी मिसाल नहीं मिल सकती। उसने जहाँ एक ओर अमेरिकी सेना के हथकंडों का पर्दाफाश करने में हिचक नहीं प्रकट की, वहीं दूसरी ओर कम्युनिस्ट पक्ष के अनुचित दबाव को भी नहीं माना। बाद में सभी शान्तिप्रिय राष्ट्रों ने मुक्त कण्ठ से यह स्वीकार किया कि तटस्थ राष्ट्र वापसी आयोग और संरक्षक सेना—दोनों के भारतीय अफसरों और सैनिकों ने निष्पक्षता के साथ अपने कर्तव्य का निर्वाह किया। इस कर्तव्य का निर्वाह करते समय भारत को दक्षिणी कोरिया की खरी-खोटी खूब सुननी पड़ी। दक्षिणी कोरिया ने तो भारतीय सेना के विरुद्ध बल-प्रयोग तक करने की धमकी दे डाली। समझौते की शर्तों के विरुद्ध उसने बहुत से सैनिकों को छोड़ कर हंगामा भी खड़ा कर दिया। भारत ने धैर्य के साथ सभी संकटों और धमकियों का सामना किया। 'वह पहले से ही जानता था कि कोरिया में उसका काम आसान नहीं है। संरक्षक सेना के पहले दस्ते के रवाना होने के समय ही पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने यह बात स्पष्ट कर दी थी। उन्होंने कहा था कि यद्यपि यह भारत और भारतीय सेना के लिए सम्मान की बात है तथापि इसमें जिम्मेदारी भी बहुत अधिक है।'

१. चीन के नयी दिल्ली-स्थित दूतावास द्वारा प्रकाशित समाचार बुलेटिन-संख्या ३५—१९५४ पृ० स० ७।

"सितम्बर, १९५४ के प्रारम्भ में, कोरिया के छोटे से असैन्यीकृत क्षेत्र में पहुँचते ही संरक्षक सेना अपने काम में जुट गयी। शीघ्र ही प्रारम्भिक व्यवस्था पूरी कर डाली गयी। हिन्द नगर (तटस्थ राष्ट्र वापसी आयोग का सदर मुकाम) और नयी दिल्ली के बीच बेतार के तार का सम्बन्ध जोड़ लिया गया, स्थानीय टेलीफोन व्यवस्था पूरी कर डाली गयी और एक क्षेत्रवर्ती अस्पताल खोल दिया गया। २४ सितम्बर १९५४ तक उन्होंने युद्ध-बंदियों को अपनी देख-रेख में ले लिया। कुल २२, ५१२ उत्तरी कोरियाई और चीनी, ३५९ दक्षिण कोरियाई और ब्रिटिश बंदी थे ."

"इधर, तटस्थ राष्ट्र वापसी आयोग ने कार्य-प्रणाली के नियम आदि बना लिये और युद्ध बंदियों के नाम एक संदेश में उन्हें यह विश्वास दिलाया कि वे निर्भय होकर वापस जाने के बारे में अपनी इच्छा व्यक्त कर सकते हैं और आयोग इस बात का ध्यान रखेगा कि इस काम में उन पर किसी प्रकार का दबाव न डाला जाय। उन्हें यह भी बताया गया कि २६ दिसम्बर को बंदियों के देशों के प्रतिनिधि उन्हें उनके अधिकारों के विषय में समझायेंगे तथा वापस देश जाने के विषय में जो बंदी ९० दिनों तक अपना निर्णय न बतायेंगे, वे उससे बाद और ३० दिनों तक संरक्षक सेना के अधीन रहेंगे। इन ३० दिनों में राजनीतिक सम्मेलन बंदियों के भविष्य के विषय में निर्णय करने का प्रयत्न करेगा।"

"जिस दिन बंदियों को समझाने का काम शुरू होने वाला था, उसके एक दिन पहले ही संरक्षक सेना के अफसरों और जवानों के धैर्य तथा चतुरता की परीक्षा का समय आ गया। चीनी युद्ध-बंदी, मेजर एम० एस० ग्रेवाल को जबरदस्ती घसीट कर अपने अहाते में ले गये और यह कहने लगे कि जब तक वापस भेजे गये उनके साथियों को वापस न बुलाया जायगा तब तक मेजर ग्रेवाल न छोड़े जायँगे। जब बंदी मेजर ग्रेवाल को ले जा रहे थे, उस समय लांस नायक ठाकुरसिंह उनकी मदद के लिए अपनी जान को खतरे में डाल कर दौड़े हुए शिविर के अन्दर गये। इस वीरता के लिए उन्हें अशोक चक्र से विभूषित किया गया। कुछ बंदियों ने मेजर ग्रेवाल को भीतर ही रोक रखा था और शेष, बड़ी धमकी भरे और हिंसात्मक ढङ्ग से बाहर ही प्रदर्शन कर

रहे थे। संरक्षक सेना के सेनापति मेजर जेनरल थोराट के चतुरता पूर्ण और शान्त व्यवहार से स्थिति काबू में आयी और मेजर ग्रेवाल को बंदियों ने वापस लौटाया।'' इस प्रकार के और भी अवसर आये लेकिन तटस्थ राष्ट्र वापसी आयोग के भारतीय अध्यक्ष लेफ्टिनेएट जनरल के० एस० थिमैय्या तथा उनके साथियों ने धैर्य से सबका सामना किया और भारत की प्रतिष्ठा पर किसी प्रकार भी आँच न आने दी। यद्यपि उपद्रव कराने की चेष्टा काफी की गयी—यहाँ तक कि राशन में छिपा कर वायरलेस सेट तथा शस्त्रास्त्र तक संयुक्त राष्ट्रीय सैनिकों के पास भेजे गये, लेकिन भारतीय सैनिकों की सतर्कता और दृढ़ता से शान्ति भंग न होने पायी और भारत ने अपना काम पूरा किया।

तिब्बत की समस्या

कोरिया के युद्ध से भारत का कोई सीधा सम्बन्ध न था। इस मामले में भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल की दिलचस्पी का आधार उनका यह आदर्श ही रहा कि किसी राष्ट्र के आन्तरिक मामले में बाह्य राष्ट्र को हस्तक्षेप न करना चाहिये और मानवता की रक्षा एवं उसके विकास के लिए यह आवश्यक है कि मतभेदों का निपटारा आपसी बातचीत के द्वारा किया जाय—युद्ध से नहीं। संयोगवश कोरिया का युद्ध प्रारम्भ होने के चार मास बाद ही ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी जिससे भारत के स्वार्थ का सीधा सम्बन्ध था। यह स्थिति चीन की नीति के कारण उत्पन्न हुई। इस मामले को पं० जवाहर लाल नेहरू ने जिस बुद्धिमत्ता से सुलझाया उसके कारण भारत-चीन की मैत्री, बावजूद इस बात के और भी दृढ़ हुई, कि भारत ने प्रत्यक्षतः चीन की उपर्युक्त नीति को असंगत बताया था।

७ अक्टूबर, सन् १९५० को चीन ने 'तिब्बत को साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त करने के लिए अपनी सेना वहाँ भेजी।'[1] भारत में इसकी व्यापक प्रतिक्रिया हुई। यह स्वाभाविक भी था; क्योंकि तिब्बत में भारत के व्यापार को काफी लम्बे अरसे से संरक्षण प्राप्त रहा है। उसका एक प्रतिनिधि भी तिब्बत में रहता था। भारत की चिन्ता का दूसरा कारण था—तिब्बत की भौगोलिक अवस्थिति। यह कश्मीर, नेपाल और भूटान के बगल से होता हुआ चीन की सीमा तक विस्तृत है और दक्षिण में हिमालय की तथा उत्तर में ऊनलुन की

1. Supplement of People's China, Vol. III. No. 12. June 16, 1951 P. P. 12.

पहाड़ियों से घिरा है। यहाँ व्यापक राजनीतिक उथल-पुथल होने पर उसका प्रभाव भारत पर भी पड़ सकता है। इन्हीं कारणों का यह परिणाम था कि चीनी सेना के अभियान के साथ-साथ भारत में इसके सम्बन्ध में अनेक प्रश्न खड़े हो गये। तरह-तरह के विचार प्रकट किये जाने लगे। भारत की सुरक्षा की समस्या उपस्थित की गयी। संसद में नेहरूजी से इस सम्बन्ध में अनेक प्रश्न पूछे गये। यह समय था जब भारत और चीन में तनाव उत्पन्न हो सकता था लेकिन चीन के सम्बन्ध में नेहरूजी के वास्तविक दृष्टिकोण के कारण स्थिति उलझ न पायी। नेहरूजी इस बात को मानते थे कि तिब्बत पर चीन का ही प्रभुत्त्व माना जाता रहा है। यह ऐतिहासिक तथ्य है। यह बात दूसरी है कि यह अनेक उलझनों से घिरा हुआ है! सन् १८७१ से लेकर सन् १६१८ तक के तिब्बत के इतिहास में अनेक बार यह तथ्य दोहराया गया है। इसमें शक नहीं है कि दलाई लामा ने तिब्बत पर चीन के राजनीतिक प्रभुत्त्व से पीछा छुड़ाने की कोशिश बार-बार की किन्तु उन्हें सफलता कभी नहीं मिली। इसमें भी शक नहीं है कि इस खुराफात के पीछे ब्रिटेन का बहुत हाथ रहा लेकिन उसे भी सफलता नहीं मिली। सन् १६०६ में ब्रिटेन और चीन में जो समझौता (पीकिंग समझौता) हुआ, उसमें ब्रिटेन ने तिब्बत पर चीन की प्रभुता स्वीकार की। इतिहास यह बताता है कि लार्ड कर्जन (भारत में गवर-नर जनरल) के कार्यकाल तक तिब्बत पर चीन की प्रभुता बिना किसी मीन-मेख के स्वीकार की जाती रही। जहाँ तक सीमा का सवाल है, उसके सम्बन्ध में भी सन् १८६० में भारत और चीन में जा अन्तर्राष्ट्रीय समझौता हुआ, उसमें भी तिब्बत में चीन की प्रभुसत्ता स्वीकार की गयी थी। सन् १६०६ की ब्रिटेन-चीन सन्धि के बाद सन १६०७ में ब्रिटेन और रूस में एक समझौता हुआ जिसमें उपर्युक्त तथ्य दोहराया गया। सन् १६१४ के महायुद्ध का लाभ उठाकर ब्रिटेन ने पुनः एक बार तिब्बत पर कब्जा करना चाहा लेकिन उसे सफलता न मिली। तिब्बत और ब्रिटेन ने इस दौरान में जिस समझौते पर हस्ताक्षर किये उसका विरोध करने के लिए उस समय भी चीन ने अपनी सेनाएँ तिब्बत में भेजी थी लेकिन आन्तरिक गड़बड़ी के कारण चीनी सेना का अभियान असफल रहा और तिब्बत ने सफलतापूर्वक चीन का सामना किया।

तिब्बत पर चीनी लोक गणतन्त्र की सेना की चढ़ाई के समय नेहरूजी ने वस्तुस्थिति की कभी उपेक्षा नहीं की। चीनी सेना के अभिमान से पूर्व की घटनाएँ ऐसी थीं, जिनकी उपेक्षा चीन भी नहीं कर सकता था और यह बात नेहरूजी से छिपी न थी। दलाई लामा की सरकार ने साम्राज्यवादी देशों के इशारे पर ८ जुलाई, सन् १९४९ को चीन से अपना सम्बन्ध विच्छेद करने की घोषणा की। इसके अनुसार तिब्बत-स्थित चीनी अधिकारियों को तिब्बत छोड़ने की आज्ञा भी दे दी गयी। दरअसल तिब्बत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक कशमकश का अखाड़ा बन रहा था। यहाँ की दलाई लामा सरकार को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता तक प्रदान करने की तैयारी कर ली गयी थी। अजीब हालत थी और इस हालत का मुकाबला चीन को करना था। उसने अपने तरीके से यह किया भी। नेहरूजी ने यह तरीका पसंद नहीं किया और अपनी राय से चीन सरकार को अवगत करा दिया। तिब्बत पर चीनी सेना के अभियान के लगभग दो मास बाद ६ दिसंबर, सन् १९५० को भारतीय लोक सभा में परराष्ट्र-नीति पर बहस प्रारम्भ करते हुए नेहरू जी ने तिब्बत के सम्बंध में जो कुछ कहा, उसमें उपर्युक्त विरोध का उल्लेख भी शामिल है। नेहरूजी ने कहा था—"तिब्बत में चीनी सेना के अभियान के सम्बंध में इससे पूर्व प्रातः कुछ प्रश्न किये गये थे।..........जहाँ तक हमारा सम्बंध है, तिब्बत का मामला बहुत साधारण है। जब चीनी लोक गणतत्र की सरकार ने, 'तिब्बत की मुक्ति' के संबंध में अपने विचार प्रकट करना प्रारंभ किया तभी भारत की ओर से चीन-स्थित उसके राजदूत ने चीन सरकार को भारत के मत से अवगत करा दिया था। हमने अपनी यह हार्दिक आशा प्रकट की कि चीन और तिब्बत शांतिपूर्वक समस्या हल कर लेंगे। हमने यह भी स्पष्ट कर दिया कि तिब्बत के सम्बंध में हमारी कोई क्षेत्रीय या राजनीतिक अभिलाषा नहीं है। उससे हमारा व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बंध है। हमने चीन को बताया कि इन सम्बंधों को कायम रखने की हमारी इच्छा स्वाभाविक है; क्योंकि इससे न तो चीन के मार्ग में अड़चन पड़ती है, न तिब्बत के। हमने अपनी यह इच्छा भी उससे नहीं छिपायी कि तिब्बत का स्वायत्त-शासन का अधिकार जिसका उपभोग वह कमसे कम पिछले चालीस वर्षों से कर रहा है, हम चाहते हैं, कायम रहे। हमने ये सभी बातें मैत्री भाव

से कहीं। अपने उत्तर में चीन सरकार ने हमेशा यही कहा कि हम शांति पूर्वक समस्या को हल करना चाहेंगे लेकिन उसने यह भी नहीं छिपाया कि प्रत्येक दशा में चीनी सेना का 'मुक्ति अभियान' शुरू होगा। वह तिब्बत को किससे मुक्त करना चाहती थी, यह बिलकुल साफ न था। उसने हमे बताया कि शांति-पूर्ण हल ढूढ़ा जायगा लेकिन इसके सम्बंध में उसने कोई आश्वासन हमें नहीं दिया। एक ओर तो वह कहती थी हम शांति-पूर्ण समझौते के लिए तैयार है और दूसरी ओर बार- बार 'तिब्बत की मुक्ति' की भी बात करती थी।"

"हमें यह विश्वास हो गया था कि समस्या शांतिपूर्ण ढंग से आपसी वार्ता के द्वारा हल कर ली जायगी। जब हमें चीनी-सेना के अभियान का समाचार मिला, हमारे दिल पर धक्का लगा। सच तो यह है कि चीन और तिब्बत के बीच युद्ध की बात कोई मुश्किल से सोच सकता है। तिब्बत युद्ध करने की स्थिति में नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तिब्बत से चीन को कोई खतरा नहीं है। कहा जाता है कि अन्य देश तिब्बत में षड्यन्त्र रच सकते हैं। मैं इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकता, क्योंकि मैं कुछ जानता ही नहीं हूँ। फिर भी यह निश्चित है कि तत्काल कोई संकट न था। आधुनिक युद्ध में हिंसा को शायद प्रतिपादित किया जा सकता है लेकिन इसका सहारा तब तक न लिया जाना चाहिये, जब तक सभी रास्ते बंद न हो जाँय। यही कारण है कि चीन की कार्रवाई से हमें आश्चर्य हुआ।"[१]

चीन से तिब्बत का मुकाबिला ही क्या होता। शीघ्र ही मामला समाप्त हो गया। पीकिंग में २३ मई, सन् १९५१ को तिब्बत की स्थानीय सरकार और चीनी लोक गणतन्त्र के प्रतिनिधियों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये। इतने पर भी भारत में इसकी चर्चा समाप्त नहीं हुई। यह बराबर बनी रही और लम्बे अर्से तक बनी रही। सीमान्त की सुरक्षा का प्रश्न बराबर उठाया जाता रहा। सन् १९५० से लेकर सन् १९५४ तक अनेक अवसरों पर लोक-सभा में परराष्ट्र-नीति पर होने वाली बहस से यह स्पष्ट है। बहुत दिन नहीं हुए। मार्च, १९५४ में सुरक्षा की समस्या की चर्चा करते हुए संसद में अनेक बातें

1. Jawahar Lal Nehru's speeches – 1949-1953 P. P. 187-188.

कही गयी थीं। इनमें तिब्बत के संबंध में भी कहा गया था। नेहरूजी ने जो उत्तर दिया था, वह चीन के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण को साफ करने में काफी सहायक है। २९ मार्च, सन् १९५४ को भारत की लोक-सभा में नेहरूजी ने कहा था—"शायद कल हमारे कुछ दोस्तों ने हमारी सरहद का जिक्र किया था, खास कर उस सरहद का जो तिब्बत की तरफ है और जो मैकमोहन लाइन कहलाती है। मुझे मालूम नहीं कि उनके दिल में इस बारे में क्यों शक पैदा हुआ था, क्योंकि मैकमोहन लाइन तो एक माकूल चीज है। वह कोई हवाई चीज नहीं है और इस वक्त हिन्दुस्तान की सरहद है जिस पर हमारे काफी 'चेक पोष्ट' वगैरह कायम है और जहाँ तक हमारा ताल्लुक है, यह सरहद है और रहेगी। इस पर किसी मुल्क से बहस की बात नहीं है, न इसके बारे में हम किसी से बहस करने वाले हैं। तो फिर यह शक किसी के दिमाग में उठने के कोई माने नहीं है।"

यह कम महत्त्व की बात नहीं है कि तिब्बत के मामले में ही चीन से भारत का वह समझौता हुआ जो 'पंचशील' सिद्धान्तों की आधार-शिला है और जिसकी ओर सारे विश्व की आँखे लगी है। इस समझौते से भी यह स्पष्ट है कि चीन के बारे में अपनी दृष्टि के कारण नेहरूजी को धोखा नहीं हुआ। २९ अप्रैल, सन् १९५४ को चीन की राजधानी पेकिंग में तिब्बत प्रदेश में व्यापार और संसर्ग के विषय में भारत और चीन के बीच हुए समझौते [1] पर भारत की ओर से उसके तत्कालीन पूर्णाधिकारी राजदूत श्री नेडियम राघवन् तथा चीन की ओर से उसके उप-विदेश मन्त्री श्री चांग हान्-फू ने हस्ताक्षर किये थे। इस समझौते के प्राक्कथन में उन्हीं पाँच सिद्धान्तों को समझौते का आधार माना गया है जिनकी घोषणा २८ जून, सन् १९५४ को भारत के परराष्ट्र-मन्त्री नेहरूजी तथा चीन के परराष्ट्र-मन्त्री श्री चाओ एन लाई ने नयी दिल्ली में संयुक्त रूप से की तथा बाद में बर्मा और हिन्दएशिया तथा यूरोप के देश यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो ने जिन्हें अपनाने की घोषणा की। इस समझौते से स्पष्ट है कि तिब्बत में भारत के स्वार्थ को कहीं भी धक्का नहीं पहुँचा। इस समझौते के साथ दोनों देशों के प्रतिनिधियों ने एक दूसरे के नाम जो एक-सा

१. परिशिष्ट—१

पत्र लिखा था, उससे भी यह जाहिर है। इस पत्र का ऐतिहासिक महत्त्व है और इसका मुख्य अंश इस प्रकार है—

१—भारत सरकार खुशी से इस पत्र-व्यवहार की तिथि से छः मास के अन्दर उन फौजी रक्षा-दलों को पूर्णतः हटा लेगी जो इस समय चीन के तिब्बत प्रदेश में यातुङ्ग और ग्यांत्से में हैं। चीन की सरकार इस काम में सुविधाएँ और सहायता देगी।

२—भारत सरकार ने, चीन के तिब्बत प्रदेश में डाक, तार और पबलिक टेलीफोन की जो व्यवस्थाएँ की हैं, उनको वह सामान सहित उचित मूल्य लेकर चीन सरकार के हवाले कर देगी। इस सम्बन्ध में आवश्यक कार्रवाई चीन में भारत के दूतावास और चीन सरकार के विदेश विभाग के बीच मजीद बातचीत से तय की जायगी और यह बातचीत इस पत्र-व्यवहार के बाद फौरन शुरू हो जायगी।

३—भारत सरकार खुशी से चीन के तिब्बत प्रदेश में अपने बारह आराम घर उचित मूल्य लेकर चीन सरकार के हवाले कर देगी। इस सम्बन्ध में आवश्यक कार्रवाई चीन में भारत के दूतावास और चीन सरकार के विदेश विभाग के बीच मजीद बातचीत से तय की जायगी।......चीन की सरकार इस बात को स्वीकार करती है कि ये घर आराम घरों के रूप में ही रखेगे जायँगे।

४—चीन की सरकार स्वीकार करती है कि चीन के तिब्बत प्रदेश में यातुंग और ग्यांत्से में भारत सरकार की व्यापारी एजेन्सियों के अहाते या चहारदीवारी के अन्दर जितने मकान हैं, वे सब भारत सरकार अपने ही पास रखेगी। भारत सरकार अपनी एजेंसियों के अहाते या चहारदीवारी के अन्दर की सब जमीन को चीन की तरफ से पट्टे पर रख सकती है। भारत सरकार स्वीकार करती है कि चीन सरकार की व्यापारी एजेंसियाँ कालिमपोङ्ग और कलकत्ते में अपने इस्तेमाल के लिए भारत सरकार की तरफ से जमीन पट्टे पर ले सकेगी और उस पर मकान बना सकेगी। चीन सरकार, गर्तोक में भारतीय व्यापारी एजेंसी को मकान दिलाने में सब सम्भव सहायता देगी। भारत सरकार भी नयी दिल्ली में चीनी व्यापारी एजेंसी को मकान दिलाने में सब सम्भव सहायता देगी।

५—भारत सरकार खुशी से चीन सरकार को वह सब जमीन लौटा देगी जो यांतुग में भारत सरकार के इस्तेमाल या कब्जे में है, सिवाय उस जमीन के जो यांतुग में भारत की व्यापारी एजेंसी के अहाते या चहारदीवारी के अन्दर है।

ऊपर वर्णित जमीनों पर जो भारत सरकार के इस्तेमाल या कब्जे में है और जिनको भारत सरकार लौटाने वाली हो, यदि भारत सरकार के गोदाम या मकान हैं या भारतीय व्यापारियों की दूकानें, गोदाम या मकान हैं और इसलिए इन जमीनों को पट्टे पर लेते रहने की जरूरत है, तो चीन सरकार स्वीकार करती है कि वह भारत सरकार या भारतीय व्यापारियों के साथ यथोचित इन जमीनों के उन हिस्सों को पट्टे पर उठाने के लिए इकरारनामे पर दस्तखत करेगी, जिन हिस्सों पर ऊपर वर्णित गोदाम, मकान या दूकानें हो या जो जमीन के हिस्से इन इमारतों से सम्बन्ध रखते हों।

६—दोनों तरफ के व्यापारिक एजेण्ट स्थानिक सरकार के कानूनों और उपनियमों के अनुसार दीवानी या फौजदारी मामलों में ग्रस्त अपने देशवासियों से मिल सकेंगे।

७—दोनों तरफ के व्यापारिक एजेण्ट और व्यापारी पास-पड़ोस में लोगों को नौकर रख सकेंगे।

८—ग्यांत्से और यांतुग में भारतीय व्यापारी एजेंसियों के अस्पताल एजेंसी के लोगों की सेवा बदस्तूर करते रहेंगे।

९—प्रत्येक सरकार दूसरे देश के व्यापारियों और तीर्थयात्रियों की जान और सम्पत्ति की रक्षा करेगी।

१०—चीन सरकार स्वीकार करती है कि वह यथासम्भव, पुलनचुङ्ग (तकला कोट) से कांगरिंपोचे (कैलाश) और मवंत्सो (मानसरोवर) तक के रास्ते पर तीर्थ यात्रियों के इस्तेमाल के लिये आरामघर बनायेगी। भारत सरकार तीर्थ यात्रियों को सभी सम्भव सुविधाएँ भारत में देना स्वीकार करती है।

११—दोनों तरफ के व्यापारियों और तीर्थ यात्रियों को साधारण और उचित दर पर, यातायात के साधन किराये पर लेने की सुविधा दी जायगी।

१२—प्रत्येक पक्ष की तीनों व्यापारिक एजेंसियाँ बारहों (१२) महीने काम कर सकती है।

१३—दोनों देशों के व्यापारी स्थानिक उपनियमों के अनुसार उन स्थानों में जो दूसरे देश के अधिकार में हों, मकान या गोदाम किराये पर ले सकते हैं।

१४—इकरारनामे के अनुच्छेद २ में जो स्थान निर्दिष्ट किये गये हैं, उन पर दोनों देशों के व्यापारी स्थानिक उपनियमों के अनुसार यथाक्रम व्यापार कर सकते हैं। और—

१५—दोनों देशों के व्यापारियों के बीच कर्ज या मुतालबे के झगड़ों को स्थानिक कानूनों और उपनियमों के अनुसार हाथ में लिया जायगा।

उपर्युक्त तथ्य से अवगत इतिहास के पाठकों को यह स्वीकार करना ही होगा कि चीन के सम्बन्ध में नेहरू जी का जो दृष्टिकोण रहा है, उसके फल-स्वरूप लगभग एक अरब की आबादी वाले एशिया को दो महान् देश न केवल एक-दूसरे के निकट आये किन्तु उन्होंने पारस्परिक समझौते द्वारा अन्त-र्राष्ट्रीय समस्याएँ हल करने की व्यवहारिकता भी सिद्ध कर दी।

चाओ एन लाई की भारत-यात्रा

चीन से सम्बन्धित समस्याओं के प्रति नेहरूजी की दृष्टि से सिद्ध हो चुका है कि वह विश्व-शान्ति के लिए एवं विशेष रूप से एशिया में शान्ति तथा एशियाई देशोंके विकास के लिए भारत-चीन मैत्री को बहुत आवश्यक समझते रहे हैं। यही कारण है कि उन्होंने भारत-चीन मैत्री की दो हजार वर्ष पुरानी परम्परा को बनाये रखने की कोशिश बराबर की। इस सम्बन्ध में उनकी क्रियाशीलता का क्रमवार विवरण इससे पूर्व दिया जा चुका है। चीन के प्रधान मन्त्री एवं परराष्ट्र-मन्त्री श्री चाओ एन लाई की भारत-यात्रा इस शृंखला की ही महत्त्वपूर्ण कड़ी है। श्री चाओ एन लाई नेहरू जी के आमन्त्रण पर भारत आये और २५ जून, सन् १९५४ को नयी दिल्ली के हवाई अड्डे पर पहुँचे। यहाँ उनका जैसा शानदार स्वागत हुआ, इससे पूर्व ऐसा शानदार स्वागत भारत में किसी विदेशी अधिकारी और जन-नायक का नहीं हुआ था। इसमें सन्देह नहीं है कि चाओ की यात्रा से भारत-चीन मैत्री और दृढ़ हुई और इस ऐतिहासिक यात्रा की जबरदस्त प्रतिक्रिया अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी हुई।

श्री चाओ एन लाई जनेवा में होने वाले कोरियाई सम्मेलन और हिन्द-चीन सम्मेलन में भाग लेने के बाद जनेवा से ही भारत आये थे। कोरियाई सम्मेलन को भारत की देन का उल्लेख तीसरे अध्याय में किया जा चुका है। श्री चाओ की भारत-यात्रा और इसके निरूपण में नेहरू जी के योग-दान का महत्त्व समझने के लिए हिन्द-चीन सम्मेलन को नेहरूजी की देन का ज्ञान होना आवश्यक है।

जनेवा में हिन्द-चीन-विषयक सम्मेलन प्रारम्भ होने से दो दिन पूर्व अर्थात् २४ अप्रैल, सन् १९५४ को नेहरूजी ने इस समस्या के समाधान के लिए अपने ठोस सुझाव उपस्थित किये थे। ये सुझाव नेहरू जी के उस ऐति-

हासिक भाषण में निहित हैं जो उन्होंने भारत की लोक सभा में इस दिन किया था।[1] यह आदि से अन्त तक महत्त्वपूर्ण तथ्यों से भरा है और इसमें उल्लिखित बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्द-चीन की समस्या के सम्बन्ध में चीन और नेहरू जी की दृष्टियों में कोई विशेष अन्तर न था। कुछ हेरफेर के बाद चन्द दिनों के अन्दर कोलम्बो राष्ट्रों (भारत, लंका, पाकिस्तान, बर्मा और हिन्द-एशिया) ने भी नेहरू जी के हिन्द-चीन-सम्बन्धी सुझाव की पुष्टि कर दी। अन्ततः हिन्द-चीन के सम्बन्ध में जनेवा में जो समझौता हुआ, वह नेहरूजी द्वारा प्रस्तुत सुझावों के आधार पर आधारित नहीं है, यह कहने का साहस कोई नहीं कर सकता।

नेहरूजी द्वारा प्रस्तुत सुझाव इस प्रकार थे—

१—शान्तिपूर्ण तथा पारस्परिक बातचीत का वातावरण बनाना है और शंका तथा धमकियों के वर्त्तमान वातावरण को दूर करना है। इस दिशा में भारत सरकार की सब सम्बद्ध देशों से अपील है कि वे धमकियाँ देना बन्द कर दें। युद्ध में भाग लेने वाले पक्षों से भी यह अपील है कि वे युद्ध के वेग को न बढ़ाएँ।

२—युद्ध-विराम के लिए भारत सरकार के सुझाव ये हैं—

(क) हिन्द-चीन-विषयक वार्ता की कार्य-सूची में 'युद्ध-विराम' विषय को प्राथमिकता दी जाय।

(ख) युद्ध में वास्तविक रूप में भाग लेने वाले पक्षों अर्थात् फ्रांस तथा तीनों साथी राज्यों और वियतमिन्ह का एक युद्ध-विराम समूह बनाया जाय।

३—सम्मेलन को यह निश्चय करना चाहिये और यह घोषणा करनी चाहिये कि इस झगड़े को निपटाने के लिए यह आवश्यक है कि फ्रांस की सरकार हिन्द-चीन को पूर्ण स्वतन्त्र करने का स्पष्ट वचन दे।

४—सम्मेलन द्वारा मुख्य रूप से सम्बद्ध दलों में सीधे बातचीत शुरू करायी जाय। स्वयं समझौते का कोई रास्ता निकालने के बजाय, सम्मेलन को मुख्य रूप से सम्बद्ध दलों से आपसी बातचीत करने की प्रार्थना करनी चाहिये और इसके लिए सम्मेलन सभी प्रकार की सहायता दे। इस प्रकार सीधी बातचीत से

---

१. परिशिष्ट—२

हिन्द-चीन की समस्या को उन प्रश्नोंत्तर तक सीमित रखने में सहायता मिलेगी जिनका हिन्द-चीन से सीधा संबन्ध है। ये दल वही होंगे जो युद्ध-स्थगन में शामिल होंगे।

५—सम्मेलन द्वारा अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और चीन में यह करार कराया जाय कि ये देश परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सेना या युद्ध-सामग्री द्वारा युद्ध-रत दलों को सहायता न देंगे। संयुक्त राष्ट्रसंघ से यह प्रार्थना की जाय कि वह हिन्द-चीन में अहस्तक्षेप का एक कनवेंसन बनाये जिसमें उपर्युक्त करार और इसको कार्यान्वित करने की व्यवस्था भी शामिल हो। अन्य राष्ट्रों से भी संयुक्त राष्ट्रसंघ इस कनवेंशन का पालन करने को कहे।

६—सम्मेलन की प्रगति की सूचना संयुक्त राष्ट्रसंघ को दी जाय। कनवेंशन के उपर्युक्त अनुच्छेद के अन्तर्गत, समझौते के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ का उपयोग किया जाय।

नेहरू जी के इन सुझावों की व्यापक प्रतिक्रिया हुई। फ्रांस, ब्रिटेन, रूस और चीन आदि राष्ट्र इनसे प्रभावित भी हुए। सच तो यह है कि इस मामले में ब्रिटेन ने खुलेआम अमेरिका के मुकाबले में भारत को अधिक तरजीह दी। भारत के प्रयास से जिस हद तक चीन प्रभावित हुआ, उसका उल्लेख श्री चाओ एन लाई ने अपने स्वागत में नेहरू जी द्वारा नयी दिल्ली में आयोजित समारोह के प्रति आभार व्यक्त करते हुए स्वयं यह कहकर किया था (२६ जून, १९५४) कि "हिन्दचीन की लड़ाई को बन्द कराने की कोशिश में भारत बराबर दिलचस्पी लेता रहा है। जनेवा सम्मेलन में, हिन्दचीन में फिर से शांति स्थापित करने के लिये जो प्रयत्न किये गये हैं, उनका उसने दृढ़ता से समर्थन किया है।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय श्री चाओ एन लाई भारत में आये, उस समय तक उनके मन में यह धारणा निश्चित रूपसे घर कर चुकी थी कि पण्डित जवाहर लाल नेहरू संपूर्ण एशिया महाद्वीप में शांति के कट्टर समर्थक हैं और इस मामले में साम्राज्यवादी देशों के समक्ष किसी प्रकार भी झुकने के लिये वह तैयार नहीं हैं। अपनी भारत-यात्रा के दौरान में श्री चाओ ने यह स्वीकार भी किया। इसके फलस्वरूप जहाँ एक ओर भारत-चीन मैत्री दृढ़ हुई, वहीं

दूसरी ओर एशिया में शांति-स्थापन के प्रयास को भी पर्याप्त बल मिला। यह छिपी हुई बात नहीं है कि चाओ-नेहरू के मिलाप को अमेरिका ने जो पश्चिमी देशों की नीति का काफी हद तक नियन्ता है, सन्देह की दृष्टि से देखा। वस्तुतः इसमें सन्देह की कोई गुञ्जाइश न थी। नेहरू जी ने श्री चाओ की यात्रा के दौरान में पुनः एक बार चीन के संबन्ध में अपने विचार काफी विस्तार से व्यक्त कर दिये थे। २६ जून, सन् १९५४ को श्री चाओ के सम्मान में राष्ट्रपति भवन में आयोजित समारोह के अवसर पर नेहरू जी ने जो भाषण किया, उसमें उपर्युक्त विचार निहित थे। वास्तव में इस भाषण में नेहरू जी ने स्वयं चीन के सम्बन्ध में अपने भावों का सिंहावलोकन किया था। उन्होंने कहा था—"पन्द्रह वर्ष हुए कि मैं चीन गया था और इस इरादे से गया था कि वहाँ मास डेढ़-मास रहूँगा और मैं उम्मीद करता था कि वहाँ मिस्टर चाओ एन लाई से मिलूँगा। लेकिन, एक अजीब इत्तिफाक हुआ कि मैं वहाँ सिर्फ पाँच-छः दिन ही था कि यूरोप में लड़ाई छिड़ गयी और मुझे यकायक वापस आना पड़ा। इसलिए मैं आपसे न मिल सका और इस बात का मुझे अफसोस है। अब पन्द्रह वर्ष के बाद मेरी पुरानी ख्वाहिश पूरी हुई है। मुझे इसकी खुशी है कि एक बहुत बड़े आदमी से मेरा मिलन हुआ लेकिन, इसके अलावा यह हमारे मुल्क में एक बड़ी कौम और एक बड़े मुल्क के नुमाइन्दे की हैसियत से आये हैं, इसलिए हमें और भी खुशी है। उनका और हमारा मिलना खाली दो आदमियों का या चंद आदमियों का मिलना नहीं है बल्कि एशिया के दो बड़े मुल्कों के नुमाइन्दों का मिलना है। हम चाहे कुछ भी हस्ती रखें लेकिन हमारी नुमाइन्दगी की हस्ती एक बड़ी चीज है; क्योंकि बड़े मुल्कों की तरफ से हम बोलते हैं। तो, इन दो बड़े मुल्कों का मिलना इस तरह से एक तारीखी बात है। आजकल की दुनिया में क्या हो या क्या न हो, यह कहना मुश्किल है लेकिन चीन और हिन्दुस्तान का एक दूसरे से क्या बरताव हो, एक दूसरे से कैसा रिश्ता हो, यह एक बड़ी बात है जिसका असर एशिया पर पड़ेगा और जाहिर है कि कुछ दुनिया पर भी पड़ेगा।.......... हमारे दोनों मुल्कों के पुराने रिश्ते हजारों वर्ष के हैं और इन हजारों वर्षों में बहुत ऊँचा-नीचा हमारे मुल्कों ने देखा है।.......लेकिन एक अजीब इत्तिफाक

है कि इन हजारों वर्षों में ये दोनों कौमें, बड़ी जानदार कौमें, दूर-दूर तक दुनिया में फिरती रहीं और अपना पैगाम, अपने खयालात, अपने विचार, अपने साहित्य, अपने धर्म, और अपनी कलाओं को जगह-जगह ले जाती रहीं लेकिन कभी भी हजारों वर्षों में इन दोनों मुल्कों में लड़ाई नहीं हुई। ऐसी मिसाल दुनिया के इतिहास में मिलनी शायद मुश्किल है।.......हिन्दुस्तान और चीन, दोनों मुल्क पिछले चन्द वर्षों में आजाद हुए। उनको अपनी जिन्दगी बसर करने और अपने रास्ते पर चलने का मौका मिला। हमारे आजाद होने के तरीके मुख्तलिफ थे........लेकिन दोनों मुल्कों के सामने कई बातें थीं जो मिलती-जुलती थीं। अलावा आजादी के, खास बात यह थी कि हम अपने मुल्क के करोड़ों आम लोगों की बेहतरी करें। उनको उठाने की और उनकी हजारों-सैकड़ों वर्षों की मुसीबतें हटाने की बात थी।.......अभी कुछ दिन हुए, चीन और हमारे देश में एक समझौता हुआ है, तिब्बत के सिलसिले में। उस समझौते में कुछ सिद्धान्तों और कुछ उसूलों का जिक्र है (पञ्चशील सिद्धान्त—सह-अस्तित्त्व के सिद्धान्त)........अगर आप गौर करें तो आप देखेंगे कि अगर यही उसूल दुनिया के सब मुल्क मान लें और एक दूसरे के काम में बेजा दखल न दें, यानी एक दूसरे से सहयोग करें तो दुनियाँ की मुसीबतें काफी कम हो जायँगी और आजकल लड़ाई का जो डर है, वह भी चला जायगा।''

वास्तव में यह बात झूठ नहीं है कि श्री चाओ एन लाई की भारत-यात्रा का कोई राजनीतिक उद्देश्य न था लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के कारण उसका परिणाम अवश्य राजनीतिक महत्त्व का रहा, इससे कोई इनकार नहीं कर सकता। फिर भी, यह तो नहीं ही कहा जा सकता कि यह परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में राजनीतिक गुटबंदी जैसा रहा। यह बात दूसरी है कि कुछ देशों ने श्री चाओ की यात्रा को इस रूप में ही देखा। इसका आधार क्या है, यह संबंधित देशों ने बताया नहीं लेकिन उनकी रीति-नीति से यह जाहिर अवश्य हो गया। मनीला सम्मेलन में दक्षिण-पूर्वी एशिया प्रतिरक्षा संघटन के प्रयास और उसके फल ने अवश्य सब कुछ बता दिया।

श्री चाओ एन लाई की भारत-यात्रा का परिणाम एक ही था और इसे

भारत से विदा होते समय स्वयं श्री चाओ ने स्पष्ट कर दिया था। २८ जून, १९५४ को दिल्ली से विदा होते समय उन्होंने जो वक्तव्य दिया, उसमें कहा था कि "पिछले तीन दिनों में चीन और भारत की जो बातें हुई हैं, उसमें वातावरण एक दूसरे से सहयोग करने और एक दूसरे को समझने का रहा है और इसीलिए उसमें निश्चित सफलताएँ प्राप्त हुई हैं। मुझे विश्वास है कि इस तरह की सफलताएँ केवल चीन और भारत की ही मित्रता को मजबूत न करेंगी बल्कि एशिया और संसार की शान्ति को पुष्ट करने में भी सहायक होंगी।" यह कथन न तो तब अतिशयोक्तिपूर्ण था, न अब है। वास्तव में उन्होंने सूत्र रूप में वे बातें कहीं थी जिनका उल्लेख उनकी और पण्डित जवाहर लाल नेहरू की २८ जून, सन् १९५४ की संयुक्त घोषणा में[1] विस्तार से किया गया है। विश्व के इतिहास में इस घोषणा का स्थायी महत्त्व है और रहेगा। इस घोषणा के फलस्वरूप एशिया के राजनीतिक विचारों की गति को एक नयी दिशा मिली, उन्हें एक नया बल प्राप्त हुआ और एशियाई राष्ट्रों के मामले में पश्चिमी राष्ट्रों के हस्तक्षेप की प्रवृत्ति को करारा धक्का लगा। सच है कि उपर्युक्त घोषणा ने एशिया के राजनीतिक वातावरण में गहरा परिवर्तन किया। इस परिवर्तन के प्रकाश में एशिया की छिपी हुई शक्ति निखर उठी। यह कहना युक्ति-संगत ही होगा कि पश्चिमी राष्ट्रों की नकेल को हाथ में रखने वाले संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के कान इस घोषणा से खड़े हो गये; क्योंकि इस घोषणा का मूलभूत तथ्य उसकी दृष्टि में सन्देहपूर्ण था। यह तथ्य है सहअस्तित्त्व के सिद्धान्त का। भारत को इसमें विश्वास प्रकट करते देख और वह भी चीन के साथ हाथ मिला कर, अमेरिका का चिन्तित होना स्वाभाविक था। अमेरिका में कुछ लोग ऐसे भी निकले जो अपना क्षोभ छिपा न सके। इनमें सिनेटर नोलैण्ड प्रमुख व्यक्ति है। यह अपना गुबार छिपा न सके और सदा की भाँति इस बार भी उन्होंने जी भरकर भारत को खरी-खोटी सुनायी और अमेरिका की ओर से भारत को दी जाने वाली आर्थिक सहायता में कटौती तक करने का सुझाव देने में हिचक नहीं प्रकट की। सिनेटर नोलैण्ड अपने मत के अकेले व्यक्ति थे, यह कहना ठीक न होगा। इतना ही कहा जा सकता

१. परिशिष्ट—३

है कि चीन के प्रति भारत के रुख से असन्तुष्ट होते हुए भी अधिकतर लोग कोई ऐसा काम करने के लिए तैयार न हुए जो प्रत्यक्षतः प्रतिहिंसामूलक होता और जो भारत को अमेरिका से दूर खींच लेता। बाद में अप्रत्यक्ष रूप में अमेरिका के नेतृत्त्व में भारत-चीन समझौते का प्रतिवाद सामने आ ही गया। मनीला समझौता इसका परिणाम है। अगले अध्याय में इस पर विस्तार से विचार किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि चाओ-नेहरू घोषणा में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया, मनीला समझौते के सिद्धान्त ठीक उनके विपरीत हैं।

मनीला सन्धि

सितम्बर, सन् १९५४ में आठ देशों के बीच मनीला समझौता हुआ। यह समझौता दक्षिण-पूर्व एशिया प्रतिरक्षा संघटन के नाम से प्रसिद्ध है। इसका जनक अमेरिका है। इसमें भाग लेने के लिए दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य राष्ट्रों के साथ-साथ भारत को भी आमन्त्रित किया गया था। भारत की ओर से पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने इसमें भाग लेने से इनकार किया। उनका यह फैसला जिन धारणाओं पर आधारित रहा, वे मनीला समझौते के संबन्ध में चीनी लोक गणतन्त्र की धारणाओं से बहुत मिलती-जुलती हैं। इसके अतिरिक्त भारत की राय के साथ दक्षिण-पूर्वी एशिया के बर्मा और हिंद-एशिया तथा लंका ऐसे राष्ट्रों की राय का भी सादृश्य रहा। इन चारों राष्ट्रों को सम्मेलन में भाग लेने के लिये निमन्त्रण मिला था किन्तु उन्होंने इसमें भाग नहीं लिया। पाकिस्तान का स्पष्टतः मनीला समझौते से कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं रहा। इन बातों को देखते हुए कौन यह कह सकता है कि मनीला समझौता दक्षिण-पूर्वी एशिया प्रतिरक्षा संघटन का समझौता है? जाहिर है कि किसी ऐसे समझौते का दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र की रक्षा-व्यवस्था से कोई संबन्ध हो ही नहीं सकता जिसमें इस क्षेत्र के बर्मा, हिन्द-एशिया और भारत ऐसे प्रमुख राष्ट्र भाग न लें।

वास्तव में सन् १९४८ में अमेरिका के इशारे पर फिलिपाइंस के तत्कालीन राष्ट्रपति द्वारा प्रस्तुत प्रशान्त-संघ योजना का ही परिवर्तित रूप मनीला समझौता है। उस समय अमेरिका ने प्रशान्त क्षेत्र और सुदूर पूर्व में कम्युनिस्टों का मुकाबला करने के लिए ही इस योजना को प्रश्रय दिया था। जुलाई, सन् १९५४ में जनेवा सम्मेलन के बाद हिन्द-चीन के मामले को लेकर पुनः

दक्षिण-पूर्वी एशिया में कम्युनिस्ट-विरोधी सैनिक संघटन बनाने की अमेरिका की भावना ने जोर पकड़ा। जिस समय जनेवा में हिन्द-चीन और कोरिया के मामले में सम्मेलन हो रहा था, बराबर अमेरिका की ओर से सैनिक शक्ति का उपयोग करने की धमकी दी जा रही थी। इन धमकियों के बीच भी जब शान्तिप्रिय राष्ट्रों के दबाव के कारण और हिन्दचीन के प्रश्न से मुख्य रूप में संबन्धित वियतनाम (हो ची मिन्ह पक्ष) और फ्रांस की इच्छा के कारण समझौता हो गया तो अमेरिका ने दक्षिण-पूर्वी एशिया प्रतिरक्षा संघटन के रूप में दूसरा सुर छेड़ा। हाँ, इसके उद्देश्य को उसने छिपाया नहीं। ६ सितम्बर, सन् १९५४ को मनीला सम्मेलन का कार्यारम्भ करते हुए अमेरिका के परराष्ट्र मन्त्री सर जान फास्टर डलेस ने जो भाषण किया था, उसमें मनीला समझौते के उद्देश्य स्पष्ट हैं। इस भाषण का यहाँ उल्लेख करना प्रासंगिक ही होगा। श्री डलेस ने कहा था—"हम यहाँ पर दक्षिण-पूर्वी एशिया में एक सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था का संघटन करने के लिए एकत्र हुए हैं। हम संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र द्वारा प्रदत्त अधिकारों तथा उसके सिद्धान्तों के अनुरूप ही ऐसा कर रहे हैं। हम जो कुछ कर रहे हैं, उसका उद्देश्य किसी राष्ट्र या किन्हीं लोगों को हानि पहुँचाना नहीं है। हम तो केवल संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र द्वारा प्रदत्त सामूहिक सुरक्षा के मूलभूत अधिकार का ही उपभोग कर रहे हैं।"

"दक्षिण-पूर्व एशिया में अमेरिका का कोई प्रादेशिक स्वार्थ नहीं है। परन्तु फिर भी हम अनुभव करते हैं कि हमारे तथा इस क्षेत्र के निवासियों के हित समान हैं।"

"एक समान खतरे के कारण हम एक हो गये हैं। यह खतरा अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद और उसकी असीमित महत्त्वाकांक्षाओं के कारण पैदा हुआ है। हम यह जानते हैं कि यदि कहीं अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद लाभान्वित होता है तो वह उससे सन्तुष्ट नहीं हो जाता बल्कि उसका उपयोग भविष्य में और अधिक लाभ प्राप्त करने के लिये करता है। उदाहरणार्थ हिन्दी-चीन को लिया जा सकता है। इस कारण वश हमारे लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम इस सम्बन्ध में बराबर सचेत रहें कि अन्यत्र क्या हो रहा है।"

"यह खतरा कई रूपों में विद्यमान है। एक खतरा तो खुल्लम-खुल्ला आक्रमण होने का है। सन्धि में शामिल देशों पर किये गये किसी भी आक्रमण का हम संयुक्त रूप से इतना शक्तिशाली और प्रभावशाली विरोध करेंगे कि आक्रमणकारी को लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक उठानी पड़ेगी—यह स्पष्ट कर हम खतरे को बहुत कम कर सकते हैं।"

"अतः संघटन के सदस्य-राष्ट्रों के लिये यह अनिवार्य कर दिया जाय कि वे आक्रमण का विरोध करने के लिये अपनी निजी और सामूहिक क्षमता को बढ़ायेंगे। अमेरिका स्वयं भी यही कर रहा है। साथ ही इस क्षेत्र के अन्य राष्ट्र—फिलिपाइंस, थाइलैण्ड, पाकिस्तान इस दिशा में जो प्रयत्न कर रहे हैं, उन्हें देख कर भी हमें बहुत सन्तोष हुआ है। हम आस्ट्रेलिया के प्रधान मन्त्री की इस ऐतिहासिक घोषणा का स्वागत करते हैं कि आस्ट्रेलिया शांति-काल में भी समुद्र पार के देशों में सैनिक उत्तरदायित्व ग्रहण करने के लिए तैयार है।"

"इस बात की पक्की व्यवस्था कर लेना आवश्यक है कि संधि-संघटन के सदस्य-राष्ट्रों के निजी साधनों का उपयोग सन्धि में शामिल सभी राष्ट्रों के कल्याण को दृष्टि में रख कर किया जायगा। इस सम्मेलन में उपस्थित राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद द्वारा एशिया में संघटित की गयी विशाल स्थल सेना का मुकाबिला नहीं कर सकते। यदि स्वतन्त्र राष्ट्र संसार में सभी खतरों के स्थानों पर शक्तिशाली स्थल सेना रखने का प्रयत्न करेंगे तो इससे स्वयं उनका अस्तित्त्व खतरे में पड़ जायगा।"

"जहाँ तक अमेरिका का सम्बन्ध है, उसने काफी विस्तृत क्षेत्र में बहुत अधिक उत्तरदायित्व ग्रहण कर रखे हैं। उसे यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि अपनी सहायता का सर्वोत्तम उपाय, प्रतिरोध के लिए किसी भी स्थान पर शीघ्रतापूर्वक प्रहार कर सकने की क्षमता को बनाना तथा इसके साथ ही सामरिक महत्त्व के स्थानों पर सुरक्षित सेना तैयार रखना है।"

"मुझे विश्वास है कि यदि प्रस्तावित सन्धि संघटन के सदस्य-राष्ट्र अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार इस दिशा में पर्याप्त प्रयत्न करेंगे और उनमें सामं-

जस्य स्थापित रखेंगे तो ऐसी शक्ति का निर्माण किया जा सकता है जिससे हम सबकी रक्षा हो सकेगी।"

"खुले और सशस्त्र आक्रमण के खतरे के अलावा, हमें तोड़-फोड़ और अप्रत्यक्ष आक्रमण के खतरे का भी सामना करना पड़ रहा है। इस प्रकार के खतरे का सामना करने का कोई सरल उपाय नहीं है। इसका सामना करने के लिए ऐसी दृढ़ निष्ठा, सहनशीलता और साधन सम्पन्नता की आवश्यकता है जो यहाँ के राष्ट्रपति मेगासायसाय द्वारा प्रदर्शित की गयी थी।"

"यदि स्वतन्त्र राष्ट्रों के व्यापारिक सम्बन्धों में सुधार हो जाय और उसके फलस्वरूप उनकी अर्थ व्यवस्था सुदृढ़ हो जाय तो साम्यवाद के प्रसार का खतरा घट जायगा। इसके लिए यह आवश्यक होगा कि दक्षिण-पूर्वी एशिया की सुरक्षा के सम्बन्ध में विशेष दिलचस्पी रखने वाले राष्ट्रों के अलावा अन्य राष्ट्र भी इसमें योग दें। यदि एक प्रभावकारी राष्ट्रीय योजना बनानी है तो इसमें केवल दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में ही नहीं बल्कि दक्षिण-पूर्वी एशिया और दक्षिण-पश्चिमी प्रशान्त क्षेत्र के बीच भी व्यापार को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। इस प्रकार की योजना बनाना इस सम्मेलन के कार्य-क्षेत्र के बाहर की बात है। लेकिन यदि हमने इस सम्मेलन में इस क्षेत्र के राष्ट्रों को केवल सैनिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से भी अधिक शक्ति-शाली और दृढ़ बनाने के सम्बन्ध में कोई सुविचारित निर्णय न किया तो इससे उन बहुत से लोगों के प्रति हम अपना कर्तव्य पूरा न करेंगे जिनकी आशा हम पर लगी है।"

"इस सम्मेलन में प्रस्तावित सुरक्षा सन्धि-क्षेत्र से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित कुछ राष्ट्र उपस्थित नहीं हैं। इन देशों में कम्बोडिया, लाओस और वियतनाम भी हैं। इन देशों की सरकारों और निवासियों को यह विश्वास रखना चाहिये कि हम सदैव उनका ध्यान रखेंगे और यह आशा करते हैं कि हम उनका सुरक्षा की थोड़ी-बहुत व्यवस्था अवश्य कर सकेंगे। ऐसे भी देश हैं जो सम्भवतः बाद को हमारे सुरक्षा संघटन में शामिल होना चाहें। मुझे आशा है कि प्रस्तावित सन्धि में नयी सदस्यता प्रदान करने से सम्बन्धित धारा शामिल कर ली जायगी।"

"हमारी समस्या का एक ऐसा पहलू भी है जिसे सदैव स्मरण रखना चाहिये। एशिया के निवासी "उपनिवेश वाद" के जुए को उतार फेंकने के लिए उत्सुक हैं। अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद अपना प्रभाव जमाने के लिए प्रथमतः "राष्ट्रीयता" की आवाज बुलन्द करता है और इसके बाद अपना नृशंस साम्राज्यवाद दूसरोंपर लाद देता है। वस्तुतः वह 'राष्ट्रीयता' के बिलकुल विपरीत है। इस साम्यवादी खतरे के प्रति सचेत रह कर हमने ठीक ही किया है। लेकिन पश्चिमी राष्ट्रों को इस सम्बन्ध में सदैव सावधान रहना चाहिये कि साम्यवाद का विरोध करने के अपने उत्साह में वे कहीं उन लोगों की भावनाओं को सर्वथा भुला न दे जो आज भी पश्चिमी राष्ट्रों को उपनिवेशवाद का समर्थक कहते हैं।"

"यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया जाना चाहिये कि हम में से प्रत्येक राष्ट्र नये राष्ट्रों को स्वाधीनता दिलाने और ऐसी व्यवस्था स्थापित करने में सहायता देगा जिसके द्वारा अन्य राष्ट्र अपनी स्वाधीनता प्राप्त कर सकेंगे और उसे कायम रख सकेंगे। तभी पश्चिमी और पूर्वी देश मिल जुल कर मित्रतापूर्वक काम कर सकेंगे।"

"हम यहाँ पर अपने कुछ मतभेद दूर करने के लिए एकत्र हुए हैं। इसमें भयभीत होने की कोई बात नहीं है। स्वतन्त्र समाज में मतभेदों का होना स्वाभाविक है।"

"मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि अपने प्रारम्भिक मतभेदों को समाप्त करके ही हम एक महत्वपूर्ण समझौता कर सकेंगे। अपने प्रति तथा अन्य देशोंके प्रति यह हमारा कर्तव्य है।"[1]

मनीला समझौते की शर्तों में[2] श्री डलेस के उपर्युक्त भाषण की प्रायः सभी मुख्य बातें शामिल हैं। ८ सितम्बर, सन् १९५४ को इस समझौते पर जो मनीला सन्धि के नाम से विख्यात है, अमेरिका, ब्रिटेन,

---

१. नई दिल्ली-स्थित अमेरिका के सूचना विभाग द्वारा प्रकाशित प्रेस समाचार बुलेटिन, वर्ष ६, सं० ११५।

२. परिशि—४ष्ट।

फ्रांस, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, फिलिपाइन्स, थाइलैण्ड और पाकिस्तान के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किये।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है चीनी लोक गणतन्त्र और भारत दोनों ने मनीला समझौते का स्पष्ट शब्दों में विरोध किया था। इसके परिणाम-स्वरूप भारत पर यह दोषारोप भी किया गया कि उसका झुकाव कम्युनिस्ट देशों की ओर है। यह दोषारोप सर्वथा मिथ्या रहा। इस सम्बन्ध में पण्डित जवाहर लाल नेहरू के तर्कों से यह भली-भाँति स्पष्ट है। इनका उल्लेख बाद में किया जायगा। पहले यहाँ चीनी लोक गणतन्त्र की दृष्टि का उल्लेख किया जायगा।

चीन के प्रसिद्ध नीम सरकारी अखबार पीपुल्स डेली के समीक्षाकार बुचु-आन ने अपने लेख में जो ६ अगस्त, १९५४ के अंक में प्रकाशित हुआ, मनीला समझौते की प्रस्तावना का विरोध खूब कसकर किया था। उन्होंने इसमें लिखा है कि "अमेरिका का इरादा एशिया में अपने आक्रमण के क्षेत्र को विस्तृत करने का और एशियाई देशों पर एक सैनिक गुट थोपने का है जिससे उन्हें अमेरिका की चीनीजन-विरोधी द्वेषपूर्ण नीति के अनुसरण के लिए बाध्य किया जा सके।"..........."अमेरिका का शासक गुट कम्बोडिया, लाओस और बाओदाई के वियतनाम को भी इस आक्रामक गुट में घसीटना चाहता है। हिन्द-चीन विराम समझौते में स्पष्टतः यह व्यवस्था है कि हिन्द-चीन के ये तीनों राज्य किसी भी सैनिक गुट में शामिल नहीं हो सकते।........ यह स्पष्ट है कि अमेरिका की इस योजना (मनीला समझौता) का उद्देश्य इस पवित्र समझौते को भंग करना और हिन्द-चीन विराम सन्धि को धक्का पहुँचाना रहा है।"[१]

मनीला समझौते पर हस्ताक्षर होने के बाद भी चीन में इसका विरोध जारी रहा। चीन के प्रधान मन्त्री श्री चाओ एन लाई ने चीनी लोक राज-नीतिक सलाहकार सम्मेलन की प्रथम राष्ट्रीय समिति के उपाध्यक्ष की हैसियत से २१ दिसम्बर, सन् १९५४ को चीनी लोक राजनीतिक सलाहकार सम्मेलन की

---

१. नयी दिल्ली-स्थित चीनी दूतावास के संस्कृति सूचना कार्यालय द्वारा प्रकाशित समाचार बुलेटिन—संख्या ३४—१९५४, २० अगस्त, १९५४ पृष्ठ संख्या ३–४।

द्वितीय राष्ट्रीय समिति के अधिवेशन में जो रिपोर्ट पेश की थी, उसमें भी मनीला समझौते का उल्लेख किया गया है। रिपोर्ट में कहा गया है कि "अमेरिका, जनेवा समझौते को भंग करने के लिए वियतनाम में सक्रिय हस्तक्षेप कर रहा है। अमेरिकी आक्रामक गुट और उसके अनुयायियों ने मनीला संधि पर हस्ताक्षर किये हैं जिसका उद्देश्य जनेवा समझौते की जड़ खोदना है।"

श्री चाओ एन लाइ ने अन्य अवसरों पर भी कई बार मनीला समझौते का विरोध किया और इसका कारण बताया। २७ सितम्बर, सन् १९५४ को प्रथम राष्ट्रीय लोक कांग्रेस के समक्ष सरकारी कार्यों की जो रिपोर्ट उन्होंने प्रस्तुत की, उसमें भी मनीला समझौते का विरोध उल्लिखित है। इसमें कहा गया है कि "एशिया में, आक्रामक अमेरिकी गुट ने मनीला में आठ राष्ट्रों का सम्मेलन किया जिसमें तथाकथित दक्षिण-पूर्वी एशिया प्रतिरक्षा सन्धि का कार्य सम्पन्न हुआ। इस सन्धि से जाहिर है कि अमेरिका का उद्देश्य जनेवा सम्मेलन में हुए समझौतों को नष्ट करना, एशिया में फूट पैदा करने के लिए सैनिक सहयोग संघटन बनाना, चीनी लोक गणतन्त्र के प्रति आक्रामक रुख अपनाना, एशियाई देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप तथा नयी उत्तेजना पैदा करना है।"............"यह मार्के की बात है कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के साथ सैनिक सहायता सन्धि करने वाले देशों में तीन एशियाई देशों को छोड़कर, इस तथाकथित दक्षिण-पूर्वी एशिया सामूहिक रक्षा-सन्धि में भाग लेने वाले सभी देश गैर एशियाई हैं। स्पष्टतः इस सन्धि से यही सिद्ध होता है कि यह उपनिवेशवादी शक्तियों के सैनिक सहयोग के अलावा और कुछ नहीं है। यह सैनिक सन्धि न केवल सुदूर पूर्व में चीन को आक्रमण का मुख्य लक्ष्य बनाने की अमेरिका की नीति को पुष्ट करती है बल्कि सभी दिशाओं से एशियाई देशों पर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के आक्रमण को सुविधाजनक भी बनाती है। "साम्यवादी आक्रमण" के बहाने जिसका अस्तित्व भी नहीं है, इस सन्धि के सहारे स्वतन्त्रतापूर्वक भय फैला कर, आशंका उत्पन्न कर और कुछ एशियाई देशों को दूसरे एशियाई देशों के विरुद्ध उकसाकर अमेरिका एशिया में फूट डाल सकता है। तथाकथित "तोड़-फोड़ की काररवाई" को रोकने तथा इसका प्रतिकार करने के बहाने, इस सन्धि के सहारे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, जहाँ कहीं भी वह

चाहे, दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है और एशिया में स्वातन्त्र्य आन्दोलन को दबा सकता है। "आर्थिक उपायों" (इकनामिक मेजर्स) के उपबन्धों पर अमल करते हुए इस सन्धि के सहारे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका दक्षिण-पूर्वी एशिया को सामरिक महत्त्व के सामनों से वञ्चित कर सकता है, यहाँ के लोगों को गुलाम बना सकता है और अपनी औपनिवेशिक सत्ता स्थापित कर सकता है। इस क्षेत्र में "ऐसे तथ्य से या स्थिति से खतरा उत्पन्न हो गया है जो यहाँ की शान्ति को संकटापन्न कर सकती है"—यह बहाना करके इस सन्धि के सहारे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका आजादी के साथ अपने तथाकथित संरक्षण में किसी भी क्षेत्र को लेने की घोषणा कर सकता है ताकि एशिया के दूसरे भागों में सशस्त्र हस्तक्षेप कर सकने की उसकी नीति का विस्तार हो जाय। वास्तव में फिलिपाइंस और थाइलैण्ड पर चीन के तथाकथित "आक्रमण का खतरा" न केवल कपोल कल्पित है बल्कि यह भी आधारहीन बात है कि चीन और थाईलैण्ड तथा चीन और फिलिपाइंस के बीच साधारण राजनीतिक सम्बन्ध कायम ।नहीं हो सकते। अमेरिकी आक्रमक शक्तियों के प्रति अपनी सेवाओं को न्यायपूर्ण बनाने के लिए यह दोनों राष्ट्रों का बहाना मात्र है। इन बातों के आधार पर यह देखा जा सकता है कि इस सन्धि के अन्तर्गत सैनिक सहयोग के द्वारा उपनिवेशवादी राष्ट्र एशियाई देशों के भाग्य का निपटारा करने तथा स्वभाग्य निर्णय के एशियाई देशों के अधिकार को रौंदने की कोशिश कर रहे हैं। यह सन्धि संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र के उद्देश्यों और सिद्धान्तों के विरुद्ध है। भारत, हिन्दएशिया, बर्मा और लंका सदृश्य दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रमुख देशों ने, अपनी स्वतन्त्रता और आजादी की रक्षा करते हुए मनीला सम्मेलन में भाग लेने से इनकार कर दिया। इन चार देशों के न्यायपूर्ण निर्णय का चीनी लोक गणतन्त्र की सरकार पूरी तरह समर्थन करती है और उपर्युक्त सैनिक सहयोग का दृढ़ता के साथ विरोध करती है जिसका उद्देश्य दक्षिण-पूर्व एशिया में फूट पैदा करना है।"

"दक्षिण-पूर्व एशिया सामूहिक रक्षा-संधि पर हस्ताक्षर करने वाले देशों ने निरंकुशता पूर्ण ढङ्गसे अपने 'संरक्षण' के क्षेत्र के अन्तर्गत कम्बोडिया,

लाओस और वियतनाम के दक्षिण भाग को शामिल कर लिया है और कम्बोडिया, लाओस और वियतनाम के सम्बन्ध में जनेवा समझौते का पालन न होने देने की कोशिश की है।''[1]

चीन द्वारा मनीला सन्धि के विरोध का आधार उपर्युक्त उद्धरणों में निहित है। भारत का विरोध भी प्रकारान्तर से लगभग उन्हीं बातों पर आधारित है जिनका उल्लेख चीनी प्रधान मन्त्री श्री चाओ एन लाई की उपर्युक्त रिपोर्टों में मिलता है। ८ सितम्बर, सन् १९५४ को सम्बन्धित देशों ने मनीला सन्धि पर हस्ताक्षर किये। दूसरे ही दिन अर्थात् ९ सितम्बर को भारत के प्रधान मन्त्री की हैसियत से पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने इस सन्धि का गहरा विरोध किया। इस अवसर पर ही उन्होंने जार्ज आरवेल के प्रसिद्ध उपन्यास 'नाइन्टीन एट्टी फोर' में प्रयुक्त इस मुहावरे को दोहराया कि 'हम सोचते कुछ हैं और करते कुछ और हैं (डबल थिंक एण्ड डबल टाक)। इन व्यङ्गात्मक वाक्यों से सन्धि के प्रति नेहरू जी के विरोध की तीव्रता भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है—''एशियाई समस्याओं, एशियाई सुरक्षा और एशियाई शान्ति के सम्बन्ध में न केवल विचार-विमर्श किया जाता है, बल्कि कार्रवाई भी की जाती है और इनके सम्बन्ध में सन्धियाँ भी की जाती है और ये भी मुख्यतः गैर एशियाई देशों के द्वारा।''[2]............''एक और भी भद्दी बात है। कुछ देश, जिनके स्वार्थ समान होते हैं, अपनी रक्षा के लिए आपस में मिल जाते हैं। यह सैनिक तथा अन्य प्रकार की सन्धियों के सम्बन्ध में इतिहास का साधारण तथ्य है। लेकिन अब सन्धि में एक नयी बात भी घुस जाती है। कुछ देश दूसरे देशोंकी जो उनसे मिलना नहीं चाहते, रक्षा करने के लिए एक दूसरे के साथ हो जाते हैं! यह असाधारण बात है कि दूसरे देश किसी का संरक्षण

1. "Report on the work of the Government"—Chou En–Lai—P. P. 48-49.
2. Ouoted from Neharu 's statement at a luncheon given in his honour by the Delhi Press Association as appeared in "Statesman" (Delhi edition) dated sept 10-1954, Page–7.

प्राप्त नहीं करना चाहते, वे चिल्ला कर इसकी घोषणा करते हैं; फिर भी उनसे कहा जाता है, 'हमारा संरक्षण अवश्य प्राप्त करना चाहिये।' ये बातें बहुत विचित्र हैं और मैं इन्हें समझ नहीं पाता।''[१]

नेहरू जी द्वारा मनीला सन्धि के तीव्र विरोध के कारण उनके अनेक भाषणों में निहित मिलेंगे। वास्तव में सन्धि की प्रस्तावना के समय से लेकर उस पर हस्ताक्षर किये जाने तक बराबर उन्होंने इसका विरोध किया और इस विरोध के कारण भी उन्होंने बताये। सन्धि पर हस्ताक्षर होने से पूर्व २५ अगस्त, सन् १९५४ को भारत की लोक सभा के समक्ष अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर बोलते हुए उन्होंने कहा था—''अगले महीने के आरम्भ में बोगिओ, (फिलीपाइन्स) में दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों का सामूहिक संघटन बनाने पर विचार किया जायगा। इस सम्मेलन में सम्मिलित होने के सम्बन्ध में हम अपनी असमर्थता प्रकट कर चुके हैं, क्योंकि हमें जान पड़ता है कि हिन्द-चीन के समझौते से मेल-मिलाप की जो धारा फूटी है, इससे उसका प्रवाह विपरीत दिशा की ओर हो जायगा। हमें डर है कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों के सामूहिक संघटन से भविष्य में लाभ के बजाय हानि अधिक होगी।'' ये बातें दूसरे दिन अर्थात् २६ अगस्त को राज्य सभा में भाषण करते हुए नेहरू जी ने दोहरायी भी थी। २७ अगस्त, सन् १९५४ को राज्य सभा में श्री एस० सी० माथुर के ३० अप्रैल के प्रस्ताव पर बहस को पुनः जारी करते हुए भी नेहरूजी ने मनीला सन्धि का उल्लेख किया था। इस समय तक सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं हुए थे, केवल उसका प्रस्ताव सामने था। इस अवसर पर कही गयी बातें मूलतः ९ सितम्बर, १९५४ को कही गयीं बातों से मिलती-जुलती हैं।
हैं। उन्होंने कहा था—''श्री कृष्ण मेनन द्वारा यह बताया गया है कि यह केवल ऐसी सन्धि नहीं है जिसमें कुछ देशों द्वारा एक दूसरे के लिए कुछ करने का वादा किया गया हो—चाहे यह सैनिक सहयोग हो या और कुछ। अन्य देशों की रक्षा के लिए कुछ करनेके निमित्त कुछ देशों के बीच यह सन्धि होगी जो

१. अंग्रेजी दैनिक 'स्टेट्समैन' (दिल्ली संस्करण) के १० सितम्बर, १९५४ अङ्क में पृष्ठ सात पर प्रकाशत नेहरू जी के भाषण (दिल्ली प्रेस एसोसियेशन द्वारा आयोजित भोज में) की रिपोर्ट से उद्धरित।

काफी विचित्र बात है। दो देशों के आपस में मिलने की तथा इस बात पर विचार करने की कि तीसरे या चौथे देश के सम्बन्ध में वे क्या करेंगे, यह नये प्रकार की धारणा (कंशेप्सन) है। जनेवा सम्मेलन की मूलभूत बातों में एक बात यह थी कि......हिन्द-चीन के देश तटस्थ रहें और वे न तो एक गुट में मिले, न दूसरे में। यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। वस्तुतः इस बात पर जनेवा सम्मेलन समाप्त हुआ। एक ओर फ्रांस के मित्र देश भविष्य में अपने विरुद्ध हिन्द-चीन के प्रदेशों के उपयोग की सम्भावना बरदास्त न कर सके और दूसरी ओर चीन अपने विरुद्ध इन देशों का उपयोग युद्ध के अड्डों या अन्य रूप में, बरदास्त न कर सका। इसलिए कठिनाई से बचने का एक मात्र मार्ग यह था कि ये प्रदेश किसी ओर भी न रहें। यह मूलभूत बात है। अब यदि कोई ऐसा काम किया जाता है जो तटस्थ क्षेत्र के रूप में हिन्दी-चीन के मूल आधार को प्रभावित करता है तो जनेवा सम्मेलन के निर्णय के पीछे की पूरी धारणा डगमगा उठती है। मैं नहीं जानता कि दक्षिण-पूर्वी एशिया सम्मेलन में क्या होगा और क्या न होगा। लेकिन यदि इसके किसी कार्य से उपर्युक्त धारणा को धक्का पहुँचता है तो किसी हद तक यह हिन्द-चीन करार की आधार भूत धारणा को धक्का पहुँचाता है—न केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बल्कि व्यवहारिक दृष्टि से भी।........एक और भी दिलचस्प बात है। मान लीजिए, किसी प्रकार का सैनिक समझौता होता है। तब इसका परिणाम यह होगा कि कुछ दूसरे समझौतों का प्रभाव भी उन देशों पर पड़ने लगेगा जो नये समझौते में शामिल होंगे।''

बावजूद इस बात के कि एशिया के दो महान् राष्ट्र चीन और भारत तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया के चार प्रमुख राष्ट्र भारत, बर्मा, हिन्द-एशिया और लंका मनीला सन्धि के विरोधी रहे, अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस अपना सुर अलापते ही रहे। मनीला सन्धि की उपयोगिता सिद्ध करने में और उसे एशियाई राष्ट्रों के हित में बताने में उन्होंने कोई कोर-कसर उठा न रखी। ब्रिटेन के अनुदार दल की बात दूर रही, वहाँ के मजदूर दल ने भी इसका समर्थन करने में हिचक प्रकट नहीं की। मनीला सन्धि के प्रति विरोध प्रकट करने वाला प्रस्ताव स्कारबरो में होने वाले मजदूर दल के वार्षिक सम्मेलन में

२,५७०,००० के मुकाबिले में ३,६६६,००० मतों से अस्वीकार कर दिया गया। अमेरिका की तो बात ही निराली थी। वहाँ दोनों प्रमुख राजनीतिक दलों के साथ-साथ सभी प्रभावशाली समाचार पत्रों ने भी जी खोल कर मनीला संधि का समर्थन किया। प्रसिद्ध अखबार न्यूनार्क टाइम्स ने लिखा कि "आठ देशों में जो समझौता हुआ है, वह सिर्फ सैनिक समझौता नहीं है और उसका क्षेत्र कहीं अधिक व्यापक है।.......इसमें एक सिद्धान्त की स्पष्ट रूप से घोषणा की गयी है। वह यह है कि सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र संसार के सभी देशों में वहाँ की जनता के स्वतन्त्र मत से चुनी गयी सरकारों का शासन स्थापित करने के लक्ष्य में योग देने का प्रयत्न करेंगे।" 'वाशिङ्गटन स्टार' तो न्यूनार्क टाइम्स से भी आगे बढ़ गया था। उसने हिन्दी-चीन के सम्बन्ध में जनेवा समझौते का मजाक खुल कर उड़ाया और इस रूप में ही मनीला संधि का समर्थन किया। जनेवा सम्मेलन में हिन्द-चीन के तीनों राज्यों—लाओस, कम्बोडिया और वियतनाम में सैनिक कार्रवाइयाँ समाप्त करने के सम्बन्ध में जो समझौता हुआ, उसमें यह तय किया गया कि विराम सन्धि के बाद, वियतनाम लाओस और कम्बोडिया में विदेशी सहायक सेनाएँ और सैनिक कार्य-कर्त्ता प्रवेश न कर सकेंगे। 'वाशिङ्गटन स्टार' ने मनीला सन्धि का समर्थन करने के जोश में इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की हत्या करने वाली सन्धि की शर्त का न केवल आर्थिक दृष्टि से बल्कि से सैनिक दृष्टि से भी समर्थन किया और कहा कि "कम्बोडिया, लाओस और स्वतन्त्र (बाओदाई सरकार) वियतनाम सन्धि की आर्थिक गति-विधियों में तो शामिल हो ही सकते हैं, साथ ही साथ यदि उन पर सैनिक आक्रमण हुआ तो सन्धि के अन्तर्गत उसे समान खतरा मान कर सामूहिक कार्रवाई भी की जायगी।"

यह मार्के की बात रही है कि मनीला सन्धि का समर्थन करने वालों ने उसके विरोधी चाओ एन लाई (चीन के प्रधान मन्त्री) और पण्डित जवाहर लाल नेहरू (भारत के प्रधान मन्त्री) के तर्कों का उत्तर कभी भी नहीं दिया। चीन के प्रधान मन्त्री के विरोध के कारणों का उल्लेख इससे पूर्व किया जा चुका है। नेहरू जी के विरोध के कारणों की ओर भी संकेत किया जा चुका है। उनके विरोध के मुख्यतः पाँच कारण थे—(१) मनीला सन्धि दक्षिण-पूर्वी एशिया

के देशों के सम्बन्ध में मनरो सिद्धान्त के सदृश्य है जिसकी घोषणा एक पत्र द्वारा ही की गयी है, (२) यह हिन्द चीन के सम्बन्ध में जनेवा समझौते के लिए खतरा है जिसमें कहा गया है कि हिन्द-चीन के तीनों राज्य अन्य देशों के साथ किसी सैनिक समझौते में शामिल न हों, (३) मनीला संधि ने सुरक्षा निश्चित करने के बजाय अरक्षा और सन्देह की भावना को जन्म दिया है। मनीला संधि 'क्षेत्रीय करार' (रीजनल एग्रीमेंट) नहीं है। कुछ सार्वभौक सत्ता प्राप्त राष्ट्र जिनका दक्षिण-पूर्वी एशिया से नाम मात्र के लिए भी सांस्कृतिक, जातीय या भौगोलिक सम्बध नहीं है, संधिमें शामिल हुए हैं। यह स्थिति संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र की विरोधिनी है, (५) सैनिक दृष्टि से संधि पर हस्ताक्षर करने वाले पश्चिमी राष्ट्रों के अतिरिक्त दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों का कोई महत्त्व नहीं है। यहाँ पर यह उल्लेख करना उचित हो होगा कि पाक-अमेरिका सैनिक संधि के संदर्भ में भी नेहरूजी ने मनीला संधि का विरोध किया था। पाकिस्तान ने तो संधि पर हस्ताक्षर अमेरिका को खुश करने के लिए ही किया। अस्तु, नेहरूजी द्वारा व्यक्त विरोध के उपर्युक्त कारणों में से कुछ का विस्तृत उल्लेख किया जा चुका है। विरोध के शेष कारणों का विस्तृत विवरण उनके उस भाषण में मिलता है जो उन्होंने २६ सितम्बर, सन् १९५४ को लोक सभा में परराष्ट्र नीति-सम्बन्धी बहस को प्रारम्भ करते हुए किया था। इस भाषण में मनीला संधि पर नेहरूजी ने काफी प्रकाश डाला। इसमें उन्होंने कहा था—"मैंने बहुधा इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि किस विशेष आवश्यकतावश दक्षिण-पूर्वी एशिया संधि का उद्भव हुआ ? कौन सा ऐसा आकस्मिक डर था जिसकी वजह से सम्बन्धित देश एक गुट में हो गये ? क्या कोई आक्रमण होने वाला था ? क्या अकस्मात दक्षिण-पूर्वी एशिया या प्रशान्त क्षेत्र की शांति संकटापन्न हो गयी थी ? जनेवा समझौते के तुरंत बाद ही मनीला संधि का समय क्यों चुना गया ? मैं इनका उत्तर पाने में असमर्थ रहा हूँ। अब मैं समझता हूँ कि इनमें भय है, मैं यह समझ सकता हूँ कि एशि-याई देशों में भय है—आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड तथा हो सकता है कि उनके आस पास के देशों में भी भय हो। मैं इस से इनकार नहीं करता। तथ्य को अस्वीकार करने से कोई लाभ नहीं होता। लेकिन और अधिक सुरक्षा उत्पन्न

करने के लिए हम भय का सामना कैसे करते हैं, हम इससे छुटकारा कैसे प्राप्त करते हैं और कैसे इसका प्रतिकार करते हैं या स्थिति का मुकाबिला करते हैं ?''

''मैं सदन के सामने यह प्रश्न रखता हूँ कि क्या मनीला संधि से दक्षिण-पूर्वी एशिया में तनाव कम हुआ है या इससे तनाव बढ़ा है ? क्या यह दक्षिण-पूर्वी एशिया या विश्व के किसी अन्य भाग को शांति की ओर सुरक्षा की दृष्टि से और अधिक आगे ले गयी है या नहीं ले गयी है ? मैं यह कबूल करता हूँ कि न तो मैं तनाव में ह्रास देखता हूँ, न शांति की ओर प्रगति ! वास्तव में स्थिति उलटी है। जनेवा समझौते के द्वारा जो अच्छा वातवरण उत्पन्न हुआ था, वह कुछ हद तक विषाक्त हो गया है। यह अच्छा बात नहीं है। क्या मनीला संधि ने शांति और सुरक्षा के लिये कोई सबल आधार उत्पन्न किया है ?''....''मैं यह सुझाव नहीं देता और यह सुझाव देना मेरे लिए अयथार्थ-वादी होना होगा कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के किसी देश अथवा भारत को झूठी सुरक्षा की भावना से आश्वस्त रहना चाहिये और यह सोचना चाहिये कि कुछ होने वाला नहीं है; हमें शांति के गीत गाने चाहिये और तब कुछ न होगा। मैं यह महसूस करता हूँ कि जिम्मेदार सरकारें इस प्रकार आचरण नहीं कर सकती। इन्हें किसी भी तरह की स्थिती का सामना करने की तैयारी करनी पड़ती है। लेकिन इन्हें अपनी नीतिका निरूपण इस प्रकार करना चाहिये कि उसकी कोई दिशा हो और यदि दिशा शांति की ओर हो तो इस ओर ही उनकी नीति होनी चाहिए।''

''अपनी रक्षा के लिए कुछ देश एक गुट बनावें, आपस में समझौता या सहयोग करें, यह बात मेरी समझ में आती है। सैनिक दृष्टि से यद्यपि मनीला संधि के फलस्वरूप हुआ समझौता या सहयोग काफी मजबूत नहीं है तथापि इससे सम्बंधित देशों की सीमा का अतिक्रमण होता है। इस संधि या समझौते में एक क्षेत्र की ओर बराबर निर्देश किया गया है और यह क्षेत्र सम्बंधित देशों का क्षेत्र नहीं है लेकिन हाँ, इस संधि में शामिल होने वाले देशों की सीमाओं के बाहर का क्षेत्र है।....उन्होंने इस 'क्षेत्र' का उल्लेख यह कह कर किया है—

एक ऐसा क्षेत्र जो अंशतः निश्चित और अंशतः अनिश्चित है; क्योंकि सम्बंधित देश इसका विस्तार कर सकते हैं। यदि वे एक राय से यह कहते हुए सहमत हो जाते हैं कि "यह भी हमारे क्षेत्र में हैं" और यदि इस क्षेत्र में कोई घटना घटती है—अर्थात् सम्बंधित देशों की सीमा के बाहर—तो वे इच्छानुसार कोई भी कदम उठा सकते हैं।....क्या मैं पुराने दिनों का स्मरण कर सकता हूँ जब बड़े और शक्ति शाली राष्ट्रों के पास एशिया में तथा अन्य जगह "अपना प्रभाव क्षेत्र" था और जब एशिया के देश कुछ भी कर सकने के लिए अत्यन्त दुर्बल थे। झगड़ा बड़ों राष्ट्रों में था और इसलिए कभी-कभी उन्हों ने प्रभाव क्षेत्रों के देशों का बँटवारा करने के लिए समझौता किया था। मुझे ऐसा लगता है कि मनीला संधि का रुख खतरनाक ढंग से शक्ति शाली राष्ट्रों द्वारा प्रभाव क्षेत्र के अधिकार का उपयोग करने की दिशा की ओर ही है क्योंकि अन्तो-गत्त्वा बड़े और शक्ति-शाली देश ही निपटारा करेंगे न कि तीन कमजोर और छोटे एशियाई देश जिनका मत्री सम्बंध उनसे हो सकता है।"

"दूसरी बात जो मैं कहना चाहता हूँ, वह यह हैः इस संधि में आक्रमण की ओर निर्देश किया गया है। इसका मतलब कोई बाह्य हस्तक्षेप ही समझ सकता है। इसके साथ ही संधि-क्षेत्र में उत्पन्न ऐसी स्थिति की ओर भी निर्देश किया गया है जो उन्हें हस्तक्षेप करने का अधिकार दे सकती है। अब इन शब्दों को देखिये—'इस क्षेत्र में पैदा किया गया तथ्य या स्थिति।' यह बाह्य आक्रमण नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि किसी आंतरिक बात के कारण भी संधि में शामिल देशों को हस्तक्षेप करने का अधिकार है। इस क्षेत्र के देशों की अखंडता, प्रभुसत्ता और स्वतंत्रा की धारणा पर क्या इससे प्रभाव नहीं पड़ता? मनीला संधि के अधिकतर भाग में बाते बड़ी अच्छी कहीं गयीं है। इसमें संयुक्त राष्ट्रसंघ के घाषणा-पत्र के मुहावरे हैं, शान्ति के सम्बंध में उसकी इच्छा के बारे में कहा गया है। औपनिवेशिक क्षेत्रों में स्वशासन को प्रोत्साहन देने की भी बात कही गयी है; शर्त यह है कि ये क्षेत्र तैयार हों तथा स्वशासन के बोझ को संभाल सकने में समर्थन हों। मैंने इसे ध्यान से पढ़ा है। मनीला संधि का पूरा दृष्टिकोण न केवल गलत है बल्कि किसी भी एशियाई देश की दृष्टि से खतरनाक भी है।"

नेहरू जी के इस भाषण में कही गयी बातों और चीन के प्रधान मन्त्री द्वारा प्रथम राष्ट्रीय लोक कांग्रेस के समक्ष २७ सितम्बर, सन् १९५४ को प्रस्तुत की गयी मनीला सन्धि से सम्बन्धित बातों की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि सन्धि के सम्बन्ध में नेहरू जी और चाओ की धारणाओं में काफी हद तक समानता है। चीन के सम्बन्ध में नेहरू जी की नीति का अध्ययन करने के लिए यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है जिसकी उपेक्षा किसी भी भाँति नहीं की जा सकती।

नेहरू जी की चीन-यात्रा

चीनी लोक गणतन्त्र के प्रधान मन्त्री श्री चाओ एन लाइ ने अपनी भारत यात्रा के समय नेहरू जी को चीन आने का निमन्त्रण दिया था। नेहरू जी ने इसे स्वीकार कर लिया था। वह अक्टूबर, सन् १९५४ के प्रथम सप्ताह में चीन गये। यह ऐतिहासिक यात्रा थी। इससे न केवल चीन-भारत मैत्री के बन्धन दृढ़ हुए अपितु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा। चीनी प्रधान मन्त्री चाओ एन लाइ की भारत-यात्रा के समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर चीन-भारत मैत्री के जिस प्रभाव का सूत्रपात हुआ था, उसने नेहरू जी की यात्रा के कारण जड़ पकड़ ली। यद्यपि यह सही है कि एशिया के दोनों प्रधान मन्त्रियों की आपसी वार्ता की कोई अधिकृत रिपोर्ट प्रकाशित नहीं हुई तथापि इसका अन्दाज नेहरू जी द्वारा भारत की लोक सभा के समक्ष २९ अगस्त, सन् १९५४ को किये गये भाषण, २० अक्टूबर, सन् १९५४ को पीकिंग में नेहरू जी के सम्मान में आयोजित-भोज में श्री चाओ एन लाइ के भाषण, चीन से लौटने के बाद कलकत्ते के दस लाख नागरिकों के समक्ष नेहरू जी द्वारा किये गये भाषण तथा अन्त में चीन-यात्रा के सम्बन्ध में लोक सभा में किये गये भाषण से भली भाँति लगाया जा सकता है।

अपनी चीन-यात्रा से लगभग दो सप्ताह पूर्व नेहरू जी ने एक ऐसा प्रश्न उठाया था जिसकी ओर न केवल दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों की आँखें खिंची बल्कि पश्चिमी देशों में भी जिसकी व्यापक प्रतिक्रिया हुई। यह प्रश्न था चीन से बाहर अन्य देशों में निवास करने वाले चीनियों की राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में। जाहिर है कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के कुछ देशों में इस प्रश्न का रूप बड़ा विकट है। उदाहरणार्थ मलाया को लिया जा सकता है। वस्तुतः

मलाया पर ब्रिटेन का कब्जा है लेकिन यह कह सकना आसान नहीं है कि मलाया के मूल निवासी अँग्रेजों से अधिक सशंक हैं अथवा चीनियों से। मलाया में उसके मूल निवासियों की अपेक्षा चीनियों की संख्या काफी अधिक है। ऐसी दशा में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि लोकतांत्रिक शासन की प्रतिष्ठा के बाद मलाया पर वास्तव में किसका शासन होगा ? यह प्रश्न आसान नहीं है। इसके दो कारण हैं, पहला कारण तो यह है कि इसमें अन्य राष्ट्रों के आन्तरिक मामले में चीन के अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप की जिसका प्रभाव प्रत्यक्ष हस्तक्षेप से तनिक भी कम न होगा, गुंजाइश निहित है और दूसरा कारण यह है कि इस गुञ्जाइश की आड़ में अपनी औपनिवेशिक सत्ता की जड़ जमाये रहने की कोशिश करते रहने का मौका साम्राज्यवादी देशों को मिलता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अपनी चीन-यात्रा से पूर्व दूसरे देशों में चीन के निवासियों की राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में नेहरू जी द्वारा उठाये गये प्रश्न की व्यापक प्रतिक्रिया—पूर्व और पश्चिम में—स्वाभाविक थी।

कहा जा सकता है कि यह ऐसा प्रश्न न था।जिसकी ओर चीनी लोक गणतन्त्र की सरकार ने नेहरू जी द्वारा ध्यान आकृष्ट किये जाने से पूर्व विचार न किया हो अथवा इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त न किया हो। लेकिन इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता, यों कठहुज्जती की गुञ्जाइश सब जगह रहती है। लेकिन ऐतिहासिक घटनाओं का विश्लेषण इस पर आधारित नहीं होता। वह आधारित होता है तथ्यों पर। चीन से बाहर रहने वाले चीनियों का प्रश्न उठा कर नेहरू जी ने वास्तव में चीन के प्रति अपने मैत्री-भाव का ही परिचय दिया और चीन ने इसे स्वीकार भी किया। यह चीन की नीति के अनुकूल ही रहा, क्योंकि इससे इनकार कर चीन एशियाई देशों से मित्रता स्थापित करने की अपनी नीति को किसी भी दशा में चरितार्थ नहीं कर सकता था। चीनियों की आबादी वाले देशों की शंका का समाधान करना उसका कर्तव्य है। इस कर्तव्य का निर्वाह प्रश्न को टाल कर या उसकी उपेक्षा करके नहीं किया जा सकता।

अन्य देशों में आबाद चीनियों की समस्या के सम्बन्ध में अपनी चीन-यात्रा के समय नेहरू जी का मत क्या था ? उनके ही शब्दों में यह इस प्रकार है—

"एशियाई देशों या दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों के चीन से भयभीत होने के कारणों में एक कारण इन देशों में बहुत बड़ी संख्या में आबाद चीनी भी रहे हैं। मलाया की भाँति कुछ देशों में बहुत कठिन समस्या उत्पन्न होती है। यहाँ उपस्थित सब लोग, मेरा विश्वास है कि मलाया की स्वतन्त्रता के पक्ष में है। यह सच है, लेकिन याद रखिये कि मलाया की यह समस्या आसान नहीं है। यह कठिन है; क्योंकि मलाया में मलाया-निवासी अल्पसंख्यक हैं। इससे कठिनाइयाँ और उलझनें उत्पन्न होती हैं। अलग-अलग किसी भी जाति के लोगों का बहुमत नहीं है; चीनियों की संख्या बहुत बड़ी है; भारतीय दस या पन्द्रह फी सदी हो सकते हैं। मलाया के मूल निवासी ऐसी किसी बात में दिलचस्पी नहीं रखते जिससे बाहरी लोगों को शक्ति मिल सकती हो। मैं केवल दिक्कतों की ओर संकेत कर रहा हूँ जिन्हें हमें समझना चाहिये। तथ्यों के बिना विशुद्ध तर्क की दृष्टि से समस्या पर विचार करने से कोई लाभ नहीं है। मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह यह है। बर्मा, हिन्द-एशिया, हिन्द-चीन और थाईलैंड में चीनी बहुत बड़ी संख्या में हैं जो इनमें भय उत्पन्न करते हैं। पुराने जमाने से अब तक चीन सरकार ने चीन की राष्ट्रीयता से अपने को पृथक कर लेने के किसी चीनी के अधिकार को मान्यता नहीं प्रदान की। इससे बड़ी विचित्र स्थिति पैदा हो गयी थी। कभी-कभी किसी न किसी प्रकार की दोहरी राष्ट्रीयता रही। दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में रहने वाले चीनियों की स्थिति को इन देशों के लिए परेशानी से भरी हुई बनाने वाला यह भी एक कारण था।"[1]

इस भाषण से पूर्व चीन के भाग्य विधाताओं ने यह तो संकेत किया था कि चीन सरकार चीन से बाहर अन्य देशों में निवास करने वाले चीनियों की राष्ट्रीयता की समस्याओं को हल करना चाहती है और वह इसे पुराने ढंग से नहीं किन्तु नये उपायों द्वारा हल करेगी लेकिन इस सम्बन्ध में उनका मत सामने नहीं आया था। इस समस्या पर चीन सरकार द्वारा स्पष्टतः अपना मत नेहरू जी के उपर्युक्त कथन के बाद ही व्यक्त किया गया मिलता है। अधिकृत रूप में इसका उल्लेख उस रिपोर्ट में मिलता है जो चीनी लोक

१. भारत की लोक सभा में नेहरू जी का भाषण—२९ अगस्त, १९५४।

गणतन्त्र के प्रधान मन्त्री श्री चाओ एन लाइ ने चीनी लोक गणतन्त्र की लोक कांग्रेस के प्रथम राष्ट्रीय अधिवेशन में २३ सितम्बर, १६५४ को प्रस्तुत की थी। रिपोर्ट में जो कुछ कहा गया गया है, उससे नेहरू जी द्वारा उठाये गये प्रश्न की महत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है। रिपोर्ट का सम्बन्धित अंश इस प्रकार है—"प्रवासी चीनियों की संख्या लगभग १२ करोड़ है। जिन देशों में वे रहते हैं वहाँ के निवासियों के साथ वर्षों से उनका सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध है। उन्होंने तत्स्थानी आर्थिक विकास एवं वहाँ सम्पन्नता लाने में योगदान किया है। प्रवासी चीनी अपने देश को बहुत प्यार करते हैं। आम-तौर पर जिन देशों में वे रहते हैं, वहाँ की राजनीतिक क्रियाशीलता में वे भाग नहीं लेते। पिछले कुछ वर्षों से वे उन देशों में बड़ी कठिन परिस्थितियों में रह रहे हैं जिनका सम्बन्ध चीन से मैत्रीपूर्ण नहीं है। हम आशा करते हैं कि ये देश प्रवासी चीनियों से भेद भाव का बर्ताव न करेंगे और उनके न्यायपूर्ण अधि-कारों एवं स्वार्थों का आदर करेंगे। अपनी ओर से हम प्रवासी चीनियों से यह अनुरोध करने के इच्छुक है कि वे जिन देशों में रह रहे हैं, वहाँ की सरकारों के कानूनों तथा सामाजिक रीति-रिवाज का आदर करें। यह उल्लेखनीय है कि प्रवासी चीनियों की राष्ट्रीयता के प्रश्न को हल करने की चेष्टा, चीन की प्रति-क्रियावादी सरकारों ने कभी नहीं की। इससे प्रवासी चीनियों की स्थिति दुरूह हो गयी और बहुधा चीन और सम्बन्धित देशों के बीच मन-मुटाव पैदा हो गया। इस स्थिति को सुधारने के लिए हम इस प्रश्न का निपटारा करने को तैयार हैं और सर्व प्रथम हम दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों के साथ जिन्होंने हम से राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, इसका निपटारा करने के लिये तैयार हैं।"[1]

जिन अन्य बातों की दृष्टि से नेहरू जी की चीन-यात्रा महत्त्वपूर्ण मानी गयी, उनका उल्लेख चीन के प्रधान मन्त्री चाओ एन लाई तथा चीनी लोक-गणतंत्र के अध्यक्ष श्री माओत्सेगतुङ्ग ने स्वयं भी किया था। आम जनता पर भी इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। दस-दस लाख चीनियों ने सड़क पर अनुशासित ढङ्ग से

1. Report on the work of Govt.—Chou-En-Lai—P. P. 45.

एकत्र होकर नेहरू जी का अभिनन्दन किया । मंचूरिया और दरेन में स्थित चीन के इस्पात तथा नौसेना के कारखानों का निरीक्षण करने का अवसर चीन सरकार ने नेहरू जी को दिया जब कि रूसियों के अलावा कोई अन्य विदेशी इन्हें नहीं देख सका था । नेहरू जी द्वारा चीन की ओर बढ़ाये गये मित्रता के हाथ का यह प्रतिदान उचित था । चीनी लोक-गणतन्त्र की सरकार इसके लिए क्यों तैयार हुई ? इस प्रश्न का उत्तर चीन के प्रधान और परराष्ट्र-मन्त्री श्री चाओ एन लाई के उस भाषण में मिलता है जो उन्होंने नेहरू जी के सम्मान में २० अक्तूबर, १९५४ को पीकिंग में आयोजित भोज में किया था । चीन के प्रधान मन्त्री ने नेहरू जी का अभिनन्दन करते हुए कहा था—"श्री नेहरू जी ने गांधी जी के साथ, भारत की स्वाधीनता के लिए जो कठोर संघर्ष किये हैं, हम चीन के लोग उनसे भलीभाँति परिचित हैं । श्री नेहरू की चीनी जनता के स्वाधीनता और स्वतन्त्रता के ध्येय से बहुत दिनों से सहानुभूति रही है । जिस समय चीनी जनता जापान के विरुद्ध युद्धरत थी, श्री नेहरू ने जापानी आक्रमण के प्रतिरोध में चीन की एकता के लिए बड़ी चिन्ता प्रकट की थी । चीनी लोक गणतन्त्र की स्थापना के बाद भारत ने, प्रधान-मत्री नेहरू के नेतृत्व में, हमारे देश के साथ तुरन्त कूटनीतिक सम्बन्ध (डिप्लोमैटिक रिलेशंस) स्थापित कर लिये अन्य शान्ति प्रिय देशों के साथ भारत ने कोरियाई विराम-सन्धि का समर्थन किया और उसे सम्पन्न कराने में सहायता पहुँचाई । अभी कुछ दिनों पूर्व भारत ने, अन्य कोलम्बो शक्तियों के साथ, हिन्दचीन में फिर से शान्ति स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया था । इस समय भारत, पोलैण्ड और कैनेडा के साथ, हिन्द-चीन में विराम-संधि के निरीक्षण का कार्य पूरा कर रहा है । अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में चीनी लोक गणतन्त्र के न्यायोचित स्थान के लिए भारत निरन्तर अपनी आवाज उठा रहा है । चीनी जनता के लिए यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि उसे शान्ति की रक्षा के समान ध्येय में भारत जैसा मैत्री रखने वाला पड़ोसी और प्रधान मन्त्री नेहरू जैसा महान् मित्र मिला है । भारत और चीन दोनों एशिया की महान् शक्तियाँ है । ये दोनों देश संसार के प्राचीन और साथ ही तरुण देश हैं । दो हजार वर्षों से भी अधिक समय से भारत और चीन के
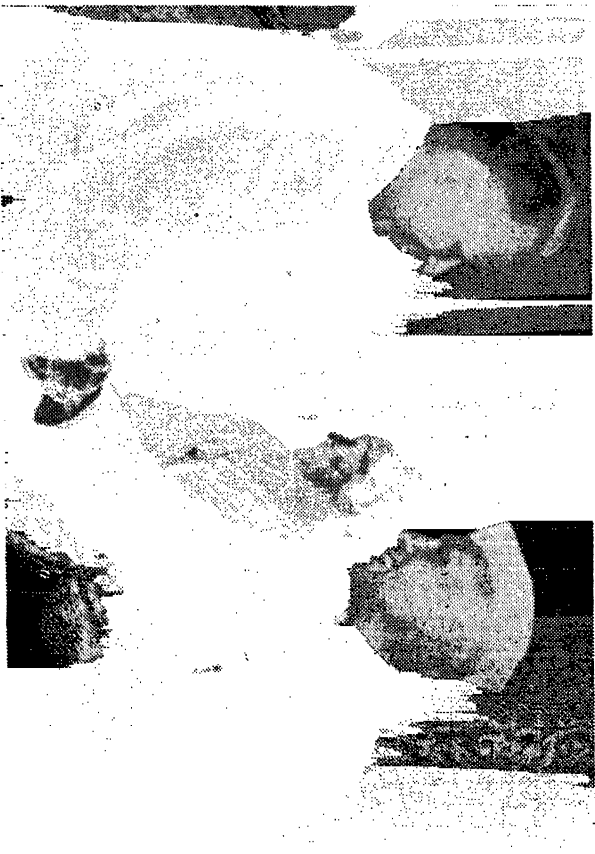
चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के प्रधान-मंत्री ल्यू शाओ पं० नेहरू का स्वागत कर रहे हैं
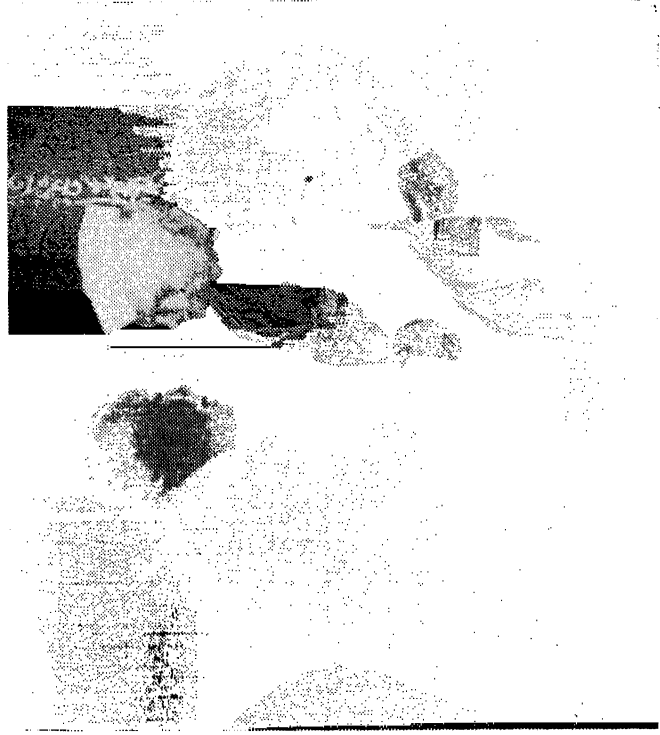
सेनाधिपति चू-तेह और पं० नेहरू का मिलन
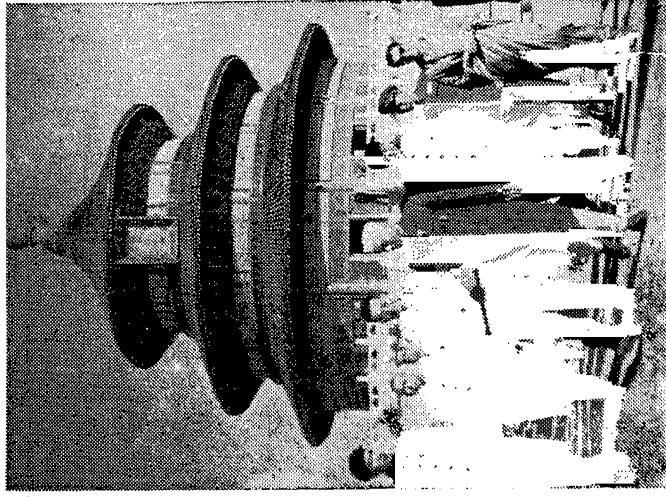
पं० नेहरू पेकिंग के प्रसिद्ध स्वर्ग-मन्दिर में

बीच गहरे सांस्कृतिक और आर्थिक सम्बन्ध रहे हैं और इन दोनों के बीच युद्ध होने का उल्लेख इतिहास में कहीं भी नहीं मिलता।''

नेहरूजी ने भी अपनी चीन-यात्रा के दौरान में अपने दिल और दिमाग को पूरी तरह खोल कर चीन-निवासियों के सामने रख दिया था। उनकी भावनाओं में यदि एक ओर प्राचीन ऐतिहासिक सम्बन्धों की स्मृति छाई हुई थी तो दूसरी ओर वर्तमान की आवश्यकताओं की ओर संकेत भी था। १६ अक्तूबर, सन् १६५४ को पीकिंग के हवाई अड्डे पर पहुँच कर नेहरूजी ने जो उद्गार प्रकट किये थे, वे उनकी वास्तविक मनोदशा और इच्छाओं को व्यक्त करने वाले थे। उनमें आत्मीयता कूट कूट कर भरी थी। वर्तमान् की ऐतिहासिक आवश्यकता भी अछूती नहीं रह गयी थी। भाव पुराने थे। शब्द भी नये नहीं थे। फिर भी उनमें नया जीवन, नयी स्फूर्ति और नयी चेतना तरंगित होती दिखाई देती थी।

नेहरूजी का उपर्युक्त भाषण इस प्रकार है—

''इस महान देश की यात्रा करने की बड़े दिनों से मेरी इच्छा थी। मुझे खुशी है कि आज वह इच्छा पूरी हो रही है।

''इतिहास के आरम्भ से ही भारत और चीन में पूरी मित्रता और आपसी मेल जोल रहा है। दोनों देशों में अनेक सम्पर्क रहे हैं—सांस्कृतिक, व्यापारिक और धार्मिक। फिर भी, पिछली कुछ शताब्दियों में सद्भावना के इस आदान-प्रदान में कुछ विघ्न पड़ गया था। लेकिन, इतिहास का वह दौर भी समाप्त हो गया है और अब हम पुराने सम्बंधों को पुनर्जीवित कर रहे हैं।

''हमारे लिए एक दूसरे को समझना और अपनी ऐतिहासिक मित्रता को और पुष्ट करना बहुत ही आवश्यक है। चीन और भारत महान् देश हैं। इन की समस्याएँ समान हैं। ये दृढ़ता के साथ प्रगति-पथ पर आगे बढ़ रहे हैं। दोनों एक दूसरे को जितना ही समझेंगे उतना ही न केवल एशिया का बल्कि समस्त संसार का कल्याण होगा। आज विश्व में जो तनाव है, उसे देखते हुए यह आवश्यक है कि हम शांति के लिए मिल-जुल कर काम करें।''

"मुझे आशा है कि चीन की मेरी यह यात्रा हमें एक दूसरे के और निकट लायगी और हम शांति के लिए दूने उत्साह से काम करेंगे।"

"मैं आपके लिए भारतीय जनता की बधाइयां और शुभ कामनाएँ लाया हूँ। मुझे चीन आये केवल एक दिन हुआ है लेकिन कैण्टन और हांको में मेरा जो स्नेहपूर्ण और स्वच्छंद स्वागत हुआ, वह अर्थ-पूर्ण है। आपने जो स्नेहपूर्ण भावनाएँ प्रकट की हैं, उनके लिए मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।" [१]

२३ अक्तूबर, १९५४ को पीकिंग में आयोजित सार्वजनिक सभा में नेहरू जी ने जो भाषण किया था, वह ऐतिहासिक भाषण है। इसमें उन्होंने अतीत की सुखद स्मृतियों, वर्तमान की जिम्मेदारियों और भविष्य की कल्पनाओं का उल्लेख प्रभावशाली ढंग से किया था। चीन और भारत के पारस्परिक सम्बन्ध और वर्तमान में इस संबंध के निरूपण में नेहरूजी की ऐक्य की दृष्टि से यह भाषण बहुत महत्वपूर्ण है। यह पूरा भाषण २३ अक्टूबर के शिङ्ग-ह्वा समाचार में प्रकाशित हुआ था। चीन के भारत-स्थित दूतावास के सांस्कृतिक-सूचना कार्यालय द्वारा प्रकाशित समाचार बुलेटिन संख्या ४७। १९५४ में यह भाषण जिस रूप में उद्धरित किया गया था, वह इस प्रकार है—

'श्रीयुत मेयर तथा पीकिंग निवासियों, चार दिन पहले मैं आपके इस प्राचीन और ऐतिहासिक नगर में आया था। आप लोगों ने मेरा बहुत ही शानदार स्वागत किया है। मित्रता, सत्कार और प्रेम ने इन चार दिनों से मुझे घेर रखा है और गद्-गद् कर दिया है। इसका मुझपर जो गहरा प्रभाव पड़ा है, उसे मैं आपके आगे व्यक्त नहीं कर सकता। एक दूसरे देश से आने वाले यात्री के प्रति प्रेम-पूर्ण स्वागत का यह प्रदर्शन काफी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह किसी चीज का प्रतीक है।

'मैं इस महान् देश चीन में, जो स्वयं एक छोटा सा संसार है, एक दूसरे महान् देश से आया हूँ जो स्वयं भी एक छोटा संसार है। दोनों की जड़ें अतीत में बड़ी गहरी चली गयी हैं। इतिहास के आरम्भ से ही दोनों, युगयुगा-

---

१. शिङ्ग ह्वा समाचार—१९ अक्तूबर (चीन के दूतावास के सांस्कृतिक सूचना कार्यालय का बुलेटिन संख्या ४६—१९५४ से उद्धरित)।

न्तर में, विचार और संस्कृति की अगणित बाहरी धाराओं को ग्रहण करते रहे हैं, पचाते रहे हैं और उन पर अपने शक्तिशाली व्यक्तित्व की छाप डालकर उन्हें अपने रंग में रंगते रहे हैं। वे अपने आप को समय-समय पर बदलते रहे हैं और परिस्थितियों के अनुकूल बनाते रहे हैं। और अब, दमन के लम्बे अर्से के बाद, वे फिर बदले हैं और विभिन्न रूपों में फल-फूल रहे हैं। चीन और भारत में हुए ये नये क्रान्तिकारी परिवर्तन, विषय-वस्तु की दृष्टि से भिन्न होते हुए भी एशिया की नयी आत्मा के और उस नयी शक्ति के प्रतीक हैं जो आज एशिया के देशों में प्रस्फुटित हो रही है। हमारे इन दोनों देशों के सामने आज बड़ी बड़ी समस्याएँ हैं और हम दृढ़ता तथा आत्म-विश्वास के साथ एवं अपने-अपने देश का निर्माण करने और अपनी विशाल आबादी को सुखी और संतुष्ट करने की दृढ़ इच्छा के साथ, उनका सामना कर रहे हैं। एशिया के प्रत्येक देश की इच्छा आज यही है।

'हमें किसी भी देश या वहाँ के लोगों से कोई द्वेष नहीं है। हम संसार में शांति पूर्वक रहना चाहते हैं। यद्यपि हमें पिछले वर्षों में औरों के हाथों बहुत कुछ कष्ट सहना पड़ा है, तथापि मुझे आशा है कि हम उनके प्रति बैरभाव न रखेंगे और अन्य लोग भी हमारे मामले में हस्तक्षेप न करेंगे।'

'दोनों देशों में से प्रत्येक को अपनी-अपनी स्वाभाविक प्रतिभा और परिस्थितियों के अनुसार अपना-अपना रास्ता चुनना पड़ा है। हमने अपनी-अपनी स्वतंत्रता भिन्न-भिन्न मार्गों द्वारा प्राप्त की है। हमारा यह सौभाग्य रहा है कि हमने भारत में स्वतंत्रता शांति-पूर्ण उपायों द्वारा और शांति-पूर्ण समाधान द्वारा प्राप्त की और आज उन लोगों के प्रति, जो हम पर शासन करते थे, हमारे मन में कोई दुर्भावना नहीं है। चीन का स्वातंत्र्य लाभ अधिक कठोर और अधिक संघर्ष-पूर्ण रहा है।

'चीन और भारत का स्वतंत्र और प्रभुसत्ता सम्पन्न देशों के रूप में उदय तथा एशिया के अन्य देशों को प्राप्त स्वतंत्रता ने इस प्राचीन महाद्वीप का नक्शा ही बदल डाला है। शक्तियों का वह पुराना संतुलन जिसके कारण एशिया

पराधीन था, समाप्त हो चुका है और पीड़ा एवं संघर्ष के बीच धीरे-धीरे एक नया संतुलन पैदा हो रहा है।

'राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में ये बड़े बड़े परिवर्तन हुए हैं, धीरे धीरे एक और जबरदस्त क्रान्ति जन्म ले रही है। हम एक नये युग की ड्यौढ़ी पर खड़े हैं जिसमें मानव आणविक शक्ति से प्राप्त होने वाली जबरदस्त शक्तियों का स्वामी होगा। जिस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति ने जो लगभग दो सौ वर्ष पहले आरम्भ हुई थी, दुनिया का नक्शा बदल डाला था, उसी प्रकार मौजूदा पीढ़ी में हम उससे भी बड़ा परिवर्तन देखने वाले हैं।'

'आज की समस्याओं को हमें इस महान् पृष्ठ-भूमि में और इन परिस्थति-यों में देखना है। ये जबरदस्त शक्तियाँ संसार को नष्ट भी कर सकती हैं और मानव-जाति को मानव-कल्याण के कल्पनातीत स्तरों तक भी ले जा सकती हैं।'

'आज संसार को महत्त्वपूर्ण चुनाव करना है—शान्तिपूर्ण प्रगति और युद्ध, इनमें से एक को उसे चुनना होगा। यह युद्ध पुराने तरह के युद्धों की तरह न होगा बल्कि उनसे बहुत अधिक बुरा और विनाशकारी होगा। यह हमारी पूरी सभ्यता को नष्ट कर सकता है और मानव को पशु के स्तर तक गिरा सकता है।'

'इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर हो सकता है। लेकिन, युद्ध को टालना ही काफी नहीं है। हमें युद्ध को जन्म देने वाले कारणों को समाप्त करना है और शान्ति तथा सद्भावना के वातावरण को सक्रिय रूप से बढ़ाना है। भय, बैर और हिंसा ने मानव के लक्ष्य को बहुत दिनों तक अन्धकार में रखा है। हिंसा, हिंसा को जन्म देती है, बैर मनुष्य का पतन करता है और उसे जड़ बनाता है और भय एक बुरा साथी है। हमें विरोध के इस चक्र से बाहर निकलना है और मैत्री पूर्ण सहयोग के आधार पर एक नया संसार बनाने का प्रयत्न करना है—एक ऐसा संसार जिसमें एक देश पर दूसरे देश का, एक वर्ग पर दूसरे वर्ग का, एक नस्ल पर दूसरी नस्ल का न तो शासन होगा, न शोषण। मैं हृदय से यह आशा करता हूँ कि इस नये संसार के निर्माण के

लिए हमारे जो तरीके होंगे वे शान्ति और सहयोग के होंगे, क्योंकि मुझे विश्वास है कि बुरे और हिंसा पूर्ण तरीकों के अच्छे नतीजे नहीं हो सकते।

'चीन एक स्वाभिमानी देश है जिसकी संस्कृति युगों पुरानी है। वह अपनी नयी स्वाधीनता और शक्ति पर प्रसन्न है एवं भविष्य की ओर आशा और विश्वास के साथ देख रहा है। एक व्यक्ति की हैसियत से मेरा कोई महत्त्व नहीं है। लेकिन, मुझे भी अपने देश और उसकी विरासत पर गर्व है। अपने देश और जनता के प्रतिनिधि की हैसियत से मैं भविष्य के बारे में शक्ति और विश्वास के साथ बातें कर सकता हूँ। हमारे सामने जो महान् समस्याएँ हैं, वे आत्माभिमान, मिथ्या राष्ट्रीय अभिमान और हठधर्मी की अपेक्षा नहीं करतीं। वे अपेक्षा रखती हैं इस बात की कि सभी राष्ट्रों में—चाहे वे बड़े हों या छोटे और चाहे उनका सम्बन्ध किसी भी महाद्वीप से क्यों न हो—परस्पर मेल-जोल और मैत्रीपूर्ण सहयोग की भावना हो। इसलिए, मैं इन समस्याओं का, गर्व की भावना से नहीं, बल्कि नम्रतापूर्वक सामना करता हूँ। इस आणविक युग में, जो अभी आरम्भ हो रहा है, पुराने द्वेषों और झगड़ों के लिए कोई स्थान नहीं है। यदि इस संसार को और इसकी उपलब्धियों को बचाना है तो हमें और ढंग से सोचना और काम करना होगा।

'आज बड़े-बड़े राष्ट्र एक-दूसरे के विरुद्ध हैं और यह कहा जाता है कि पूर्व और पश्चिम में परस्पर झगड़ा है। लोग निरस्त्रीकरण की बातें करते हैं लेकिन प्रत्येक बड़ा राष्ट्र अपनी सैनिक शक्ति बढ़ा रहा है। युद्ध के नये और भयानक हथियार बनाये जा रहे हैं। यह शान्ति का रास्ता नहीं है। हमें यह मान लेना चाहिये कि संसार में रहने का केवल एक ही तरीका है, वह है सह-अस्तित्त्व का, सहयोग का और अपनी इच्छानुसार रहने के प्रत्येक राष्ट्र के अधिकार को स्वीकार करने का। भविष्य में पूर्व और पश्चिम एक दूसरे के विरुद्ध न हो सकेंगे। केवल एक संसार होगा जो अपने विभिन्न भागों में मैत्रीपूर्ण सहयोग रखते हुए मानव-जाति की उन्नति के लिए कार्य करेगा। हाल ही में हुए जनेवा समझौते ने, जिनमें चीन के प्रतिनिधियों ने इतनी प्रमुख भूमिका अदा की है, और जिससे हिन्द चीन में शान्ति कायम हो गयी है, कठिन समस्याओं को बातचीत के द्वारा शान्तिपूर्वक ढङ्ग से सुलझाने की राह हमें दिखा

दी है। इस तरीके को हमें दूसरी समस्याओं पर भी लागू करना चाहिये—इसमें कठिनाइयाँ ही क्यों न हों और चाहे यह रास्ता लम्बा ही क्यों न हो। यह वह रास्ता है जिस पर हम चल सकते हैं।'

'चीन और भारत की ओर से जिन पाँच सिद्धान्तों की घोषणा की गयी है, वे इस नये दृष्टिकोण की बुनियाद हैं। मुझे पूरा यकीन है कि न केवल एशिया के देश और लोग बल्कि दूसरे देश और लोग भी उन्हें स्वीकार करेंगे और उन पर अमल करेंगे। इस प्रकार, हम शान्ति के क्षेत्र को विस्तृत करेंगे तथा युद्ध के भय और मौजूदा तनाव को दूर करेंगे।

'मैं आपके पास शान्ति और सद्भावना का दूत बनकर आया हूँ। मैंने यहाँ शान्ति और सद्भाव की भावना देखी है। मुझे अपने चारों ओर ऐक्य का अनुभव हो रहा है। सुखद भविष्य में मेरा विश्वास और दृढ़ हो गया है। भारत और चीन मिलकर विश्व में शान्ति स्थापित करने में सफल हों, यह मेरी कामना है।''

चीन के प्रति नेहरूजी की दृष्टि और उनके व्यवहार का विहंगमावलोकन चीन के प्रधान मंत्री श्री चाओ एन-लाई के शब्दों में इस प्रकार है—'स्वाधीनता और स्वतंत्रता के चीनी जनता के ध्येय से नेहरूजी की सहानुभूति बहुत दिनों से रही है। जिस समय चीनी जनता जापान के विरुद्ध प्रतिरोधी युद्ध में संलग्न थी, उस समय नेहरूजी ने जापानी आक्रमण के प्रतिरोध में चीन की एकता के लिए बड़ी चिंता प्रकट की थी। चीनी लोक गणतंत्र की स्थापना के बाद भारत ने, अपने प्रधान मंत्री श्री नेहरू के नेतृत्व में, हमारे देश के साथ तुरंत कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया। अन्य शान्ति-प्रिय देशों के साथ भारत ने कोरियाई विराम-संधि का समर्थन किया और उसे सम्पन्न कराने में सहायता पहुँचाई। अभी कुछ दिनों पूर्व भारत ने, दूसरी कोलम्बो शक्तियों के साथ, हिंद चीन में फिर से शांति स्थापित कराने में महत्त्वपूर्ण योग दिया था।........अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में चीनी लोकतंत्र के न्यायोचित स्थान के लिए भारत निरन्तर अपनी आवाज उठाता रहा है। चीनी जनता के लिए यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि उसे शांति की रक्षा के समान ध्येय में भारत

जैसा मैत्री रखने वाला पड़ोसी और प्रधान मंत्री नेहरू जैसा महान् मित्र मिला है।'[1]

चीन के परराष्ट्र सम्बंध का इतिहास भारत के सहयोग के उल्लेख के बिना पूरा नहीं हो सकता। भारत के सहयोग से सम्बंधित विवरण में कदम कदम पर नेहरूजी के नाम का उल्लेख करना इतिहास लेखक के लिए अनिवार्य सा हो जायगा क्यों कि भारत-चीन के पारस्परिक सम्बन्ध के निरूपण में नेहरूजी के योगदान में विशिष्टता है। यह नैतिक मान्यताओं, इतिहास की शिक्षा और मानव समाज के हित की दिशाओं के सही मूल्यांकन पर आधारित है। चीन के जन-नेताओं ने स्वयं यह महसूस किया है। इसकी आवश्यकता तबतक महसूस की जाती रहेगी जब तक मानव समाज कायम रहेगा और उसके नियमन, नियंत्रण तथा राष्ट्र की व्यवस्था की आवश्यकता महसूस की जाती रहेगी।

---

१. अक्तूबर, १९५४ को पीकिंग में नेहरूजी के सम्मान में आयोजित भोज में श्री चाओ एन-लाई का भाषण।

खण्ड : २

चीन के प्रधान मंत्री श्री चाओ
एन लाई के दिल्ली यात्रा और
भारत के प्रधान मंत्री श्री नेहरू
की चीन-यात्रा के समय महत्व-
पूर्ण भाषण और संदेश आदि।

प्रधान मंत्री चाओ एन-लाइ द्वारा, नयी दिल्ली के हवाई अड्डे पर दिया गया वक्तव्य

प्रधान मंत्री चाओ एन-लाई ने, २५ जून १९५४ को, नयी दिल्ली के हवाई अड्डे पर पहुँचने पर निम्नलिखित वक्तव्य दिया—

माननीय प्रधान मंत्री जी देवियो और सज्जनो !

प्रधान मंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू के निमंत्रण पर, मुझे आज अपने इस महान् पड़ोसी देश में आने का अवसर प्राप्त हुआ है जिसके कारण मैं अत्यन्त गौरव अनुभव कर रहा हूँ। केन्द्रीय लोक सरकार और चीनी लोक गणतंत्र की जनता की ओर से मैं भारतीय सरकार और जनता का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

चीनी लोक गणतंत्र की केन्द्रीय लोक सरकार और जनता, भारतीय सरकार और जनता की मित्रता को बहुमूल्य समझती है। चीन और भारत के ९६ करोड़ लोगोंकी मित्रता और पारस्परिक शांति, एशिया और संसार की शांति की सुरक्षा में महत्त्वपूर्ण योग दे रही है।

मेरी कामना है कि—

चीन और भारत की मित्रता दिन-प्रति-दिन और उन्तति करे ;
एशियाई लोगों की एकता दिन-प्रति-दिन और मजबूत हो ;
विश्व शान्ति दिन-प्रति-दिन और पुष्ट हो।

प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू की ओर से आयोजित स्वागत-भोज में प्रधान मंत्री चाओ एन-लाई का भाषण

प्रधान मंत्री जवाहर लाल नेहरू की ओर से २६ जून १९५५ को, प्रधान मंत्री चाओ एन-लाई के सम्मान में एक भोज का आयोबन किया गया। प्रधान मंत्री चाओ एन-लाइ ने इस अवसर पर निम्नलिखित भाषण दिया।

माननीय प्रधान मंत्री जी, देवियो और सज्जनो !

महामान्य प्रधान मंत्री नेहरू के निमंत्रण पर भारत आने पर मुझे भारत सरकार और भारतीय जनता का हार्दिक स्वागत और उत्साहपूर्ण आतिथ्य-सत्कार प्राप्त हुआ है। प्रधान मंत्री नेहरू ने इस भोज का आयोजन कर मुझे अपने प्रतिष्ठित मित्रों से मिलने का अवसर प्रदान किया है जिसके कारण मैं अत्यन्त गौरव और आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ। माननीय प्रधान मंत्री जी ! मैं आपके प्रति और आपके द्वारा भारत की सरकार और जनता के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

चीन और भारत में दो हजार वर्षों से परम्परागत मित्रता चली आ रही है। भारतीय गणराज्य और चीनी लोक गणतंत्र के बीच समानता, परस्पर-लाभ और एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और प्रभुसत्ता के सम्मान के आधार पर कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने से, दोनों देशों के लोगों की इस मित्रता में पिछले कुछ वर्षों में नयी उन्नति हुई है।

चीनी सरकार और जनता, भारतीय सरकार और जनता की मित्रता को बहुत ही महत्वपूर्ण समझती है। हमारे दोनों देशों के सम्बन्ध दिन-प्रति-दिन और मजबूत हो रहे हैं और सांस्कृतिक और आर्थिक नाते बरावर बढ़ रहे हैं। खास तौर पर, इस साल अप्रैल में चीन और भारत के बीच, चीनी तिब्बत प्रदेश और भारत के पारस्परिक व्यापार और आवागमन के सम्बन्ध में, जा समझौता हुआ है, उसने न केवल चीन-भारत मित्रता में और सुधार किया है, बल्कि हमारे दोनों देशों के सम्बन्धों के निम्नलिखित सिद्धान्तों पर भी प्रकाश डाला है : एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और प्रभुसत्ता का सम्मान करना, दूसरे के विरुद्ध आक्रामक कार्रवाई न करना, एक दूसरे के अन्दरूनी

मामलों में हस्तक्षेप न करना, समानता, परस्पर-लाभ और शान्तिपूर्ण इस अस्तित्व की नीति का पालन करना। इस प्रकार इस समझौते ने राष्ट्रों की पारस्परिक समस्याओं को बातचीत द्वारा सुलझाने का एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया है।

चीन और भारत दोनों शान्तिप्रिय देश हैं। चीनी जनता को इस बात की बड़ी खुशी है कि उसका पड़ोसी, भारत जैसा देश है, जो शान्ति के उद्देश्य में संलग्न है। कोरियन विराम-संधि सम्पन्न कराने के लिए जो प्रयत्न किये गये हैं, उनमें भारत का अमूल्य योग रहा है। हिन्दचीन की लड़ाई को बन्द कराने की कोशिशों में भारत बराबर दिलचस्पी लेता रहा है और जनेवा सम्मेलन में, हिन्दचीन में फिर से शान्ति स्थापित करने के लिए जो प्रयत्न किये गये हैं, उनका उसने दृढ़ता से समर्थन किया है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि भारत की यह नीति एशिया की शान्ति की सुरक्षा के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है।

एशिया के तमाम लोग शान्ति की इच्छा रखते हैं। एशिया की शान्ति को इस समय जो खतरा है, वह बाहर से है। लेकिन आज का एशिया कल का एशिया नहीं है। वह युग, जब बाहरी शक्तियाँ अपनी इच्छानुसार एशिया के भाग्य का निर्णय कर सकती थीं, सदा के लिए बीत चुका है। हमें विश्वास है कि एशिया के तमाम शान्तिप्रिय राष्ट्रों और लोगों की एकता, जंगबाज़ों की साज़िश को परास्त कर देगी। मुझे आशा है कि चीन और भारत एशिया की शान्ति की सुरक्षा के उच्च उद्देश्य के लिए, परस्पर और भी घनिष्ठ सहयोग स्थापित करेंगे।

माननीय प्रधान मंत्री जी! मैं चीन और भारत के मैत्रीपूर्ण सहयोग के लिए, भारत की राष्ट्रीय समृद्धि के लिए और भारतीय जनता के कल्याण के लिए आपके स्वास्थ्य की कामना में मधुपान करता हूँ।

२६, जून, १६५४ को श्री चाओ के सम्मान में आयोजित भोजमें श्री नेहरू जी ने जो भाषण दिया था, वह अविकल रूप में इस प्रकार है—

जनाब प्रधान मन्त्री जी व हज़रात!

पन्द्रह वर्ष हुए कि मैं चीन गया था और इस इरादे से गया था कि वहाँ महीने डेढ़ महीने रहूँगा और मैं उम्मीद करता था कि उस वक्त वहाँ मैं मिस्टर

चाओ एन लाइ से मिलूँगा। लेकिन, एक अजीब इत्तिफाक हुआ कि मैं वहाँ सिर्फ पाँच-छः दिन ही था कि यूरोप में लड़ाई छिड़ गई और मुझे यकायक वापिस आ जाना पड़ा। इसलिये मैं आपसे नहीं मिल सका और इस बात का मुझे अफसोस है अब पन्द्रह वर्ष के बाद मेरी पुरानी ख्वाहिश पूरी हुई है। मुझे इसकी खुशी है कि एक बहुत बड़े आदमी से मेरा मिलना हुआ। लेकिन इसके अलावा यह हमारे मुल्क में एक बड़ी कौम और एक बड़े मुल्क के नुमाइन्दे की हैसियत से आए हैं, इसलिये हमें और भी खुशी है और हम उनका आदर करते हैं। उनका और हमारा मिलना खाली दो आदमियों का या चन्द आदमियों का मिलना नहीं है बल्कि एशिया के दो बड़े मुल्कों के नुमाइन्दों का मिलना है। हम चाहें कुछ भी हस्ती रखें लेकिन हमारी नुमायन्दगी की हस्ती एक बड़ी बात है; क्योंकि बड़े मुल्कों की तरफ से हम बोलते हैं। तो इन दो बड़े मुल्कों का मिलना इस तरह से एक तारीखी बात है। आजकल की दुनिया में क्या हो या क्या न हो, यह कहना मुश्किल है। लेकिन चीन और हिन्दोस्तान के एक दूसरे से क्या बर्ताव हों, एक दूसरे से क्या रिश्ते हों यह एक बड़ी बात है; जिसका असर एशिया पर पड़ेगा और जाहिर है कि कुछ दुनिया पर भी पड़ेगा।

तो, इस वक्त मेरे दिमाग में बहुत सारे खयालात आते हैं। यह खयाल आता है कि हमारे दोनों मुल्कों के पुराने रिश्ते हजारों वर्ष के हैं और इन हजारों वर्षों में बहुत ऊँचा-नीचा हमारे मुल्कों ने देखा है और हमारे हिन्दोस्तान के या चीन के लोग एक दूसरे से अपने मुल्कों में मिले और कितने ही गैर मुल्कों में मिले। लेकिन एक अजीब इत्तिफाक है कि इन हजारों वर्षों में ये दोनों कौमें, बड़ी जानदार कौमें दूर-दूर दुनिया में फिरती रहीं और अपना पैगाम अपने खयालात, अपने विचार, अपने साहित्य, अपने धर्म और अपनी कलाओं को जगह-जगह ले जाती रहीं लेकिन कभी भी इन हजारों वर्षों में इन दोनों मुल्कों में लड़ाई नहीं हुई। शायद ऐसी मिसाल दुनिया के इतिहास में मिलनी मुश्किल है। पड़ोसी मुल्क आस-पास रहते हों, एक दूसरे से ताल्लुक रखते हों और हिन्दोस्तान के और चीन के लोग एशिया के कितने मुल्कों में जाते रहे हों, लेकिन हमारा इतिहास, हमारी तवारीख कोई लड़ाई की चर्चा नहीं करती।

यह पुराने-जमाने की बात थी, लेकिन आजकल के जमाने में भी यह याद करने की बात है, क्योंकि हम इस वक्त पेंच में पड़े हैं और मालूम नहीं कि कल या परसों हमारे पास क्या पैग़ाम आ जाय। लोगों पर बड़ी जिम्मेदारियाँ हैं और आपके हाथ में किसी क़दर यह फैसला करना है। इसलिए, इस वक्त आपके आने और हमारे मिलने और दुनिया की बातों पर और ख़ास कर एशिया की बातों पर चर्चा करना एक ख़ास अहमियत रखता है।

हिन्दोस्तान और चीन दोनों मुल्क पिछले चन्द वर्षों में आज़ाद हुए और उनको अपनी ज़िन्दगी बसर करने और अपने रास्ते पर चलने का मौका मिला। हमारे आजाद होने के तरीके मुख़्तलिफ थे। आप सब लोग जानते हैं कि हिन्दोस्तान ने जो तरीक़ा अख़्तियार किया, वह शान्ति का और अम्न का था और राष्ट्रपिता महात्माजी के नेतृत्व में हम उसमें कामयाब हुए। चीन के वाक़यात दूसरे थे, वहाँ की हालत दूसरी थी और रास्ता दूसरा था। वे अपने रास्ते पर चले और आज़ाद हुए, लेकिन दोनों मुल्कों के सामने कई बातें थीं जो कि मिलती-जुलती थीं। अलावा आज़ादी के, खास बात यह थी कि वह अपने मुल्क के करोड़ों आम लोगों की बेहतरी करें, उनको उठाने की और उनकी हजारों सैकड़ों वर्षों की मुसीबतें हटाने की बात थी। यही सबक़ गांधी जी ने हमको सिखाया था और इसी रास्ते पर चीन भी चल रहा है।

आपको मालूम है कि अभी कुछ दिन हुए, चीन और हमारे देश में एक समझौता हुआ है। तिब्बत के सिलसिले में। उस समझौते में कुछ उसूलों का ज़िक्र है कि किस तरह से हम दोनों देश एक दूसरे से मिल कर रहें और हमारा एक दूसरे से क्या रिश्ता हो। उस उसूल का मैं दोहराऊँगा नहीं, लेकिन आपको याद होगा कि वह यह है कि हम एक दूसरे की आज़ादी को मंजूर करें, एक दूसरे के मामले में दख़ल न दें, एक दूसरे से सहयोग करें और दोनों में बाहरी या अन्दरूनी कोई दख़ल न हो। अगर आप ग़ौर करें तो आप देखेंगे कि अगर यही उसूल दुनिया के सब मुल्क मान लें और एक दूसरे के काम में बेजा दखल न दें, यानी एक दूसरे से सहयोग करें तो दुनिया की मुसीबतें काफी कम हो जायँगी और आजकल जो एक लड़ाई का डर है, वह भी चला जायगा। आप जानते हैं कि आजकल लड़ाई का डर खास कर

एशिया के एक कोने से सम्बन्ध रखता है, यानी इण्डो-चायना से, और इसका सवाल जनेवा के एक सम्मेलन में अभी कुछ दिनों से रहा है। यह भी शायद आप जानते होंगे कि हालांकि वह सवाल हल नहीं हुआ है, लेकिन फिर भी एक काफी बड़ा क़दम उठा है उसके हल होने की तरफ़ जिससे कि हमें कुछ उम्मीद होती है कि ज़रूर वहाँ की लड़ाई रुकेगी और उसके बाद उससे और भी कई फायदे होंगे। जनेवा में इस दर्जे तक जो कामयाबी हुई है उसके लिए आपको और आपके साथ वहाँ और मुल्कों के जो बुजुर्ग मौजूद थे, उनको इस कोशिश के लिये कि कोई रास्ता मिले, उन सबको मुबारकबाद दिया चाहता हूँ और इस उम्मीद के साथ दिया चाहता हूँ कि यह जो कदम उठा है, वह बहुत जल्दी पक्का हो जायगा और इण्डो-चायना की लड़ाई रुक जायगी ताकि वहाँ के जो और मसले हैं वे इत्मीनान से और शान्ति से हल हों।

सारी दुनिया अमन चाहती है और असल में अमन व शान्ति या लड़ाई कोई ऐसी चीज नहीं है कि आजकल आप उसके टुकड़े कर दें। सारी दुनिया शान्ति चाहती है, लेकिन शायद यह कहना सही हो कि एशिया के मुल्कों के लिए यह और भी जरूरी है, इन्तिहा दर्जे जरूरी है क्योंकि नये-नये मुल्कों के लिये अपने मुल्कों को सम्भालने का, माली तरक्की करने का और मुल्क को बनाने का अगर यह मौका लड़ाई की वजह से हाथ से छिन जाय तो यह हमारे लिए एक बहुत बुरी बात होगी, खतरनाक बात होगी और रञ्जीदा बात होगी। हम जो हिन्दोस्तान के रहने वाले हैं उन्होंने जब अपनी आजादी की लड़ाई लड़ी तो शान्ति का तरीक़ा अख़्तियार किया। तब आप समझ सकते हैं कि दुनिया की लड़ाई की निस्बत हमारी क्या राय है। चुनांचे हमें खुशी है कि इस वक्त आप और दूसरे आज़ाद मुल्कों के बड़े-बड़े नुमाइन्दे जनेवा में जमा हुए और वहाँ इस बात की पूरी कोशिश की। सवाल पेचीदा है। लेकिन फिर भी उन्होंने कोशिश जारी रखी और वह कोशिश एक दर्जे तक कामयाब भी हुई है। तो मैं आपसे, इत्मीनान से, सब हिन्दुस्तान के लोगों की तरफ से कह सकता हूँ कि हमारी यह ख़्वाहिश है, यह आरज़ू है, कि यह काम सफलता से पूरा हो, वहाँ की लड़ाई रुके और मुल्क आज़ाद हों और उनको अपनी जिन्दगी बसर करने का, जिस तरह से वे चाहते हों उस तरह से बसर करने का

मौका मिले। जिन उसूलों पर हमने और चीन ने समझौता किया है वह उलसूं और मुल्कों में भी लागू किये जायँ ताकि उनको आज़ादी से और अमन से रहने का मौक़ा मिले और कोई एक दूसरे पर हमल: आवर न हो। तो इस वक्त हम यहाँ मिले हैं—आपका जो कि चीन के प्रधान मन्त्री हैं, उनका आदर करने और उनकी इज़्ज़त करने। आपका मुल्क हमारा पड़ोसी मुल्क है, एक एशिया का बुजुर्ग मुल्क है, पुराना मुल्क है और इस वक्त दुनिया के मैदान में और एशिया के मैदान में आप एक बड़ा काम कर रहे हैं और बड़ी जिम्मेदारी ओढ़ रहे हैं। चूंकि आप वहाँ के प्रधान मंत्री हैं इसलिये ख़ास तौर से आपकी बड़ी ज़िम्मेदारियाँ हैं और हमें आपसे मिलने और बातें करने का मौका मिला और हिन्दोस्तान और चीन के रिश्ते को और भी मज़बूत करने का मौक़ा मिला क्योंकि जैसा मैंने आपसे कहा, इस रिश्ते पर बहुत कुछ एशिया का और किसी क़दर दुनिया का भी दारोमदार है।

इसके पहले कि मैं अंगरेजी भाषा में कुछ कहूँ, आपसे दरख़्वास्त करूँगा कि आप हमारी मेहमानी का जामे सेहत पियें।

प्रेस कान्फ़रेन्स में प्रधान मंत्री चाओ एन-लाइ के उत्तर

प्रधान मंत्री चाओ एन-लाइ ने २७ जून, १९५४ को नई दिल्ली में एक प्रेस कान्फ़रेन्स में संवाददाताओं के प्रश्नों का निम्नलिखित उत्तर दिया—

१—कुछ संवाददाताओं ने पूछा है कि क्या मेरे पास अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने के लिए कोई ठोस सुझाव है।

मेरे विचार में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने का मुख्य उपाय युद्ध का विरोध करना और शान्तिकी रक्षा करना है। कोरियन विराम-संधि से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कुछ कम हुआ है। यदि हिन्दचीन की लड़ाई बन्द कर दी जाय और वहाँ फिर से शांति स्थापित कर दी जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और भी कम हो जायगा। फिर भी, हमें इस तथ्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि अभी तक ऐसे लोग मौजूद हैं जो हिन्दचीन के दोनों युद्धरत पक्षों को सम्मानजनक विराम-संधि में बाधा डाल रहे हैं। इसलिए, शान्ति से प्रेम करने वाले राष्ट्रों

और लोगों को अपने प्रयत्न ज़ारी रखने चाहिए और इस प्रकार की बाधाजनक कार्रवाइयों को सफल नहीं होने देना चाहिए।

२—कुछ अन्य संवाददाताओंने पूछा है कि क्या मेरे पास एशियाई राष्ट्रों के आपसी सहयोग को बढ़ाने के लिए कोई ठोस सुझाव है।

मेरे विचार में प्रधान मंत्री नेहरू का यह कथन बिल्कुल ठीक है कि इस साल अप्रैल में चीन और भारत का, चीनी तिब्बत प्रदेश और भारत के पारस्परिक व्यापार और आवागमन के सम्बन्ध में, जो समझौता हुआ है, उसकी प्रस्तावना के पांच सिद्धान्तों को चीन और भारत के सम्बन्धों का निर्देशन करना चाहिए। ये सिद्धान्त हैं: एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और प्रभुसत्ता का सम्मान करना; एक दूसरे के विरुद्ध आक्रामक कार्रवाई न करना, एक दूसरे के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप न करना, समानता और परस्पर-लाभ की नीति का और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का पालन करना। ये सिद्धान्त केवल हमारे दोनों देशों के लिए ही नहीं, बल्कि एशिया के अन्य देशों और संसार के तमाम देशों के लिए भी अच्छे हैं। यदि इन सिद्धान्तों को एशिया में विस्तृत रूप से लागू किया जाय तो युद्ध का खतरा कम हो जायगा और एशियाई राष्ट्रों के आपसी सहयोग की सम्भावनां बढ़ जायगी।

३—कुछ लोगों ने पूछा है: संसार में कुछ राष्ट्र बड़े और कुछ छोटे हैं, कुछ शक्तिशाली और कुछ निर्बल हैं, फिर वे सब शान्तिपूर्वक साथ साथ कैसे रह सकते हैं।

हमारी राय यह है कि अभी अभी दूसरे प्रश्न के उत्तर में मैंने जिन पांच सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, उनके आधार पर संसार के सभी राष्ट्र-चाहे वे बड़े हों या छोटे, शक्तिशाली हों या निर्बल और चाहे उनमें से प्रत्येक की सामाजिक व्यवस्था किसी भी प्रकार की क्यों न हो—शान्तिपूर्वक साथ साथ रह सकते हैं। प्रत्येक राष्ट्र की जनता के राष्ट्रीय स्वाधीनता और आत्म-निर्णय के अधिकारों का सम्मान किया जाना चाहिए। प्रत्येक राष्ट्र के लोगों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे अपने लिए, दूसरे देशों के हस्तक्षेप बिना, जैसी भी राज्य-व्यवस्था और जीवन-प्रणाली चाहें चुन सकते हैं। क्रान्ति विदेशों से नहीं मंगाई जा सकती। साथ ही, किसी देश के लोगों की, सम्मिलित रूप से व्यक्त

की गई इच्छा में बाहरी हस्तक्षेप भी नहीं होने देना चाहिए। यदि संसार के सभी राष्ट्र अपने आपसी सम्बन्धों का आधार इन सिद्धान्तों को बना लें तो एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को न तो धमकी देगा और न उसके विरुद्ध आक्रामक कार्रवाई करेगा और विश्व के सभी राष्ट्रोंका शान्तिपूर्वक साथ साथ रहना, संभावना नहीं बल्कि एक वास्तविकता बन जायगी।

४—यह पूछा गया है कि क्या यह उचित होगा कि एशिया के प्रमुख देशों के प्रधान मंत्री एशिया की शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने के सामान्य उपाय ढूंढ़ने के लिए, समय समय पर आपस में मिलते रहें।

मेरी राय में, एशिया की शान्ति और सुरक्षा को बनाए रखने के सामान्य उपाय ढूँढ़ने के लिए, यह उचित होगा कि प्रमुख एशियाई देशों के उचित जिम्मेदार लोग समय समय पर आपस में मिलते रहें और एक दूसरे से परामर्श करते रहें।

५—बहुत से संवाददाताओं ने प्रश्न किया है कि चीन और भारत के सम्बन्ध किस तरह मजबूत किये जा सकते हैं।

मेरे विचार में चीन और भारत के सम्बन्धों को मजबूत करने और बढ़ाने के लिए हमें विभिन्न दिशाओं में प्रयत्न करना होगा। चीन और भारत में दो हजार वर्षों से परम्परागत मित्रता चली आ रही है। हाल ही में हमारे दोनों देशों में, चीनी तिब्बत प्रदेश और भारत के पारस्परिक व्यापार और आवागमन के सम्बन्ध में, एक समझौता हुआ है जो इन सिद्धान्तों पर आधारित है: एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और प्रभुसत्ता का सम्मान करना, एक दूसर के विरुद्ध आक्रामक कार्रवाई न करना, एक दूसरे के अन्दरूनी मामला में हस्तक्षेप न करना, समानता और परस्पर-लाभ की नीति का और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का पालन करना। इससे हमारे दोनों देशों के सम्बन्धों को मजबूत करने और बढ़ाने के लिए एक नया आधार मिल गया है। इस नये आधार पर हमारे दोनों देशों की सरकारों और लोगों के बीच, विश्व शांति के लिए, घनिष्ठ सहयोग और स्थिर सम्पर्क स्थापित होने से और दोनों देशों के आर्थिक सम्बन्धों के विकास और सांस्कृतिक आदान-प्रदान से, हमारे दोनों देशों के सम्बन्धों को बराबर

मजबूत किया जा सकेगा। यह कहा गया है कि हमारे दोनों देशों में इस समय अपेक्षाकृत कम व्यापार हो रहा है। मेरे विचार में एक दूसरे की आवश्यकताओं को पूरा करने और एक दूसरे की सहायता करने की भावना से तथा समानता और परस्पर-लाभ के आधार पर, ऐसे उपाय खोजे जा सकते हैं जिनसे यह व्यापार बढ़ सके।

६—प्रधान मंत्री नेहरू और मुझमें पिछले दिनों जो बातचीत हुई है, बहुत से संवाददाताओं ने उसमें दिलचस्पी जाहिर की है। मैं आपको यह सूचित करना चाहता हूँ कि हम—प्रधान मंत्री नेहरू और मैं—अपनी इस बातचीत पर संयुक्त वक्तव्य जारी करेंगे। मेरा विश्वास है कि हमारी पिछले कुछ दिनों की यह बातचीत, एशिया और संसार में शान्ति के पक्ष को आगे बढ़ाने में और सहायक होगी।

प्रधान मंत्री चाओ एन-लाइ ने, २७ जून १९५४ को दिल्ली नागरिक स्वागत-समारोह में निम्नलिखित भाषण दिया था :

दिल्ली नगरपालिका के प्रधान जी और प्रिय नागरिको।

सब से पहले मैं आप लोगों के प्रति अपने इस स्वागत-सत्कार के लिए हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

एक महान् देश की राजधानी में कुछ दिन बिताने का मुझे जो अवसर मिला है, उससे मैं अत्यन्त गौरव और आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ। यद्यपि हम दिल्ली में बहुत ही थोड़ी देर रह पाये हैं, तथापि आपके इस महान् परम्पराओं वाले नगर ने और यहां की उत्साही जनता ने मुझ पर अविस्मरणीय प्रभाव छोड़े हैं।

हम यहाँ भारतीय जनता के लिए चीनी जनता की मित्रता लेकर आये हैं और हम यहाँ भारतीय जनता में भी चीनी जनता के लिए वैसी ही गहरी मित्रता देख रहे हैं।

हम यहाँ चीन के लोगों में भी शान्ति को बचाने की प्रबल इच्छा लेकर आये हैं और हम यहाँ भारत के लोगों में भी शान्ति को बचाने की उतनी ही प्रबल इच्छा का अनुभव कर रहे हैं।

दिल्ली के लोगों और उनके नेताओं में हमने, हिन्द-चीन मैत्री को बढ़ाने

और विश्व शान्ति की रक्षा करने की, समूचे भारत के लोगों की सामान्य भावना और आकांक्षा का अनुभव किया है।

हमारे दोनों देशों के लोगों की, युगों से चली आती स्फूर्तिदायक मित्रता का हम सब ने बड़े उत्साह से उल्लेख किया है। आज, जब हम यहाँ एक जगह उपस्थित हैं, हम यह बात संतोष के साथ कह सकते हैं कि हमारी यह परम्परागत मित्रता रोज बढ़ रही है।

हम सब ने कहा है कि हमारे दोनों देशों के लाग स्थायी शान्ति की सामान्य इच्छा रखते हैं। निःसन्देह, भारत और चीन के ९६ करोड़ लोग जब यह मांग कर रहे हैं कि हमें संगठित होना चाहिए और कंधे से कंधा मिला कर काम करना चाहिए तो शान्ति की सुरक्षा के लिए एक विराट् शक्ति का निर्माण हो रहा है।

इस सब से मुझे यह विश्वास हो गया है कि भारत की हमारी इस यात्रा के निःसन्देह, मूल्यवान परिणाम निकलेंगे।

आपने कामना की है कि जनेवा सम्मेलन में हमें सफलता मिले। मुझे विश्वास है कि शान्ति के लिए चीन और भारत की—एशिया के दो प्रमुख राष्ट्रों की—एकता के और मजबूत होने से, जनेवा सम्मेलन की सफलता की सम्भावनाएँ निस्सन्देह बढ़ जाएँगी।

कल हमें आपके इस प्राचीन और सुन्दर नगर से बिदा लेनी है। आज बिदाई से पहले मेरी कामना है कि दिल्ली नगरपालिका और उनकी जनता दिन-प्रति-दिन समृद्ध हो। साथ ही, मेरी प्रार्थना है कि आप समूचे भारत के लोगों को चीन के लोगों का अभिनन्दन और मेरा धन्यवाद पहुँचा दें।

चीन और भारत के लोगों की मित्रता चिरंजीवी हो!

एशिया की शान्ति चिरजीवी हो!

विश्व शान्ति चिरजीवी हो।

प्रधान मंत्री चाओ-एन-लाइ ने, २७ जून १९५४ को, भारतीय जनता के लिए रेडियो पर एक भाषण किया था जो इस प्रकार है—

प्रिय भारतीय मित्रों!

भारत के लोगों के लिए भाषण देने का मुझे जो अवसर मिला है, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता अनुभव हो रही है। सब से पहले मैं भारत की महान् जनता का, चीन की महान् ज-ता की ओर से अभिनन्दन करता हूँ।

चीन और भारत की जनता में बहुत ही प्राचीन काल से गहरी मित्रता रही है। लगभग तीन हजार किलोमीटर लम्बी एक सीमान्त रेखा इन दो राष्ट्रों को एक दूसरे से जोड़ रही है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमारे दोनों देशों के बीच शताब्दियों तक सांस्कृतिक और आर्थिक आदान-प्रदान होते रहे हैं, लेकिन कभी भी लड़ाई या शत्रुता नहीं हुई है।

निकट अतीत में, चीन और भारत दोनों को विदेशी उपनिवेशवाद के आक्रमण और दमन का शिकार होना पड़ा था। लेकिन चीनी जनता और भारतीय जनता अपनी स्वाधीनता और स्वतंत्रता के लिए अविराम संघर्ष करती रही। एक सी विपत्ति का शिकार होने और एक से उद्देश्य के लिए संघर्ष करने के कारण, चीन और भारत के लोग एक दूसरे से गहरी सहानुभूति रखने लगे और एक दूसरे को गहराई से समझने लगे।

चीनी लोक गणतंत्र और भारतीय गणराज्य की स्थापना के बाद चीनी और भारतीय जनता की इस इतिहास-पोषित परम्परागत मित्रता का नवीन विकास हुआ है।

हमने अपने निजी राज्यों की स्थापना की है। हमारी सामान्य इच्छा है कि हम, शान्तिपूर्ण वातावरण में, अपनी अपनी महान् मातृभूमि का निर्माण करें। इस सामान्य इच्छा के आधार पर, हमारे दोनों देशों के लोगों की मित्रता और भी उन्नति करेगी।

हम इस मित्रता को बहुत ही महत्त्वपूर्ण समझते हैं—क्योंकि मित्रता शक्ति प्रदान करती है। आज, जब कि एशिया की शान्ति को बाहर से खतरा है, चीन और भारत के ९६ करोड़ लोगों की मित्रता, एशिया और संसार की शांति की सुरक्षा के लिए एक महान् शक्ति बन जाती है।

हाल में, हमारे दोनों देशों में, चीनी तिब्बत प्रदेश और भारत के पारस्परिक व्यापार और आवागमन के सम्बन्ध में, एक समझौता हुआ है। इस समझौते में

दोनों की सरकारों ने यह घोषणा की है कि उनके आपसी सम्बन्धों का आधार ये सिद्धान्त होंगे : एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और प्रभुसत्ता का सम्मान करना, एक दूसरे के विरुद्ध आक्रामक की कारवाई न करना, एक दूसरे के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप न करना; समानता और परस्पर-लाभ की नीति का और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का पालन करना। इन सिद्धान्तों के आधार पर सम्पन्न हुआ यह समझौता, इस बात का एक अच्छा उदाहरण है कि राष्ट्रों की आपसी समस्याएँ बातचीत द्वारा हल हो सकती हैं। प्रधान मंत्री नेहरू ने कल कहा था—"यदि ये सिद्धान्त विस्तृत क्षेत्रों में स्वीकार कर लिये जाते हैं तो इससे युद्ध का भय दूर हो जायगा और राष्ट्रों के बीच सहयोग की भावना विकसित होने लगेगी।" प्रधान मंत्री नेहरू से मेरी अब जो बातचीत हुई है, उसमें हम दोनों की यह राय रही है कि उपरोक्त सिद्धान्त एशिया और संसार के वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में लागू किये जाने चाहिएँ।

मुझे दृढ़ विश्वास है कि चीन और भारत का सम्मिलित प्रयास एशिया और संसार की शान्ति में निश्चित रूप से महान योग देगा।

चीन और भारत के लोगों की मित्रता चिरंजीवी हो!

एशिया की शान्ति चिरंजीवी हो!

विश्व शान्ति चिरंजीवी हो!

प्रधान मंत्री चाओ एन-लाइ ने, २८ जून १९५४ को, दिल्ली से विदा होते समय निम्नलिखित वक्तव्य दिया था—

भारत की अपनी इस यात्रा में मुझे भारतीय सरकार और जनता का उत्साहपूर्ण स्वागत और हार्दिक आतिथ्य-सत्कार प्राप्त हुआ है। अब विदाई की बेला में मैं भारतीय सरकार और जनता के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ।

पिछले तीन दिनों में चीन और भारत की जो बातचीत हुई है, उसमें वातावरण एक दूसरे से सहयोग करने और एक दूसरे को समझने का रहा है और इसलिये, उसमें निश्चित सफलताएँ प्राप्त हुई हैं। मुझे विश्वास है कि इस तरह की सफलताएँ केवल चीन और भारत की मित्रता को ही मजबूत

नहीं करेगी बल्कि एशिया और संसार की शान्ति को पुष्ट करने में भी सहायक होंगी।

अन्त में, मैं इस बात का विशेष रूप से उल्लेख करना चाहता हूँ कि प्रधान मंत्री नेहरू ने चीन-भारत बातचीत में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। हम सब को उनके शान्ति के प्रयत्नों की प्रशंसा करनी चाहिए।

भारत के प्रधान मंत्री नेहरू का पीकिङ में आगमन

भारतीय गणराज्य के प्रधान मंत्री श्री जवाहर लाल नेहरू, चीनी लोक गणतंत्र की सरकार के निमंत्रण पर, १६ अक्तूबर को मध्याह्न १२:२० बजे चीन की यात्रा के लिए हवाई जहाज द्वारा पीकिङ पधारे।

चीनी विदेश मंत्रालय के प्रधान कार्यालय के डायरेक्टर वाङ पिङ-नान, भारत में चीन के राजदूत युआन चुङ-श्येन और चीन में भारत के राजदूत नेद्यम राघवन उनके साथ थे।

भारतीय प्रधान मंत्री की चीन की इस यात्रा में उनके साथ उनकी पुत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी, भारतीय परराष्ट्र मंत्रालय के प्रधान सचिव एन. आर. पिल्ले और उपसचिव बहादुर सिंह तथा मनोहर लाल गोंद, के. एफ. रुस्तम जी, एन० के० सेशन और तीन अन्य व्यक्ति भी हैं।

भारतीय प्रधान मंत्री के स्वागत के लिए हवाई अड्डे पर राज्य परिषद् के प्रधान मंत्री चाउ एन-लाई; राष्ट्रीय लोक कांग्रेस को स्थायी समिति के उपाध्यक्ष सूङ छिङ-लिङ; राज्य परिषद् के उप प्रधान मंत्री: चेन युन, पेङ-हाइ, तेङ, त्जु हि, हो लुङ, उलानफु, लि फु-चुन और लि श्येन-न्येन; चीनी लोक राजनीतिक सलाहकार सम्मेलन की राष्ट्रीय समिति के उपाध्यक्ष को मो-जो; चीनी कम्युनिष्ट पार्टी की केंद्रीय समिति के प्रधान सचिव तेङ श्याओ-पिङ; क्वोमिन्ताङ क्रान्तिकारी समिति के अध्यक्ष लि चि-शेन; चीनी जनवादी लीग के उपाध्यक्ष चाङ पो-चुन; चीनी जनवादी राष्ट्रीय निर्माण संघ के अध्यक्ष हाङ येन-पे; अखिल चीनी उद्योग वाणिज्य संघ के अध्यक्ष चेन शु-तुङ; प्रवासी चीनियों के प्रख्यात नेता तान काह-की; पीकिङ के मेयर पेङ चेन; पीकिङ-टेंटशिन रक्षासेना के सेनापति न्येह जुङ्-चेन, उपविदेश मंत्री चाङ

पेकिंग के मेयर श्री पेंगचेन पं० नेहरू का अभिवादन कर रहे हैं

हान-फु और उनकी धर्मपत्नी; राज्य के प्रमुख अधिकारी तथा विभिन्न जनवादी पार्टियों, दलों और लोक संगठनों के प्रतिनिधि उपस्थित थे।

उनके स्वागत के लिए हवाई अड्डे पर राजधानी के १० हजार से अधिक नागरिक भी उपस्थित थे जिनमें जीवन के सभी क्षेत्रों के लोग शामिल थे।

हवाई अड्डा भारत और चीन के राष्ट्रीय झंडों से सजाया गया था।

हवाई जहाज से उतरते ही प्रधान मंत्री नेहरू ने प्रधान मंत्री चाओ एन-लाइ और अन्य स्वागतकर्ताओं से बड़े जोश से हाथ मिलाया। उधर बैंड पर भारत और चीन के राष्ट्रीय गान बजने लगे। इसके बाद प्रधान मंत्री नेहरू ने गार्ड ऑफ ऑनर का निरीक्षण किया और पीकिङ के बालकों से गुलदस्ते ग्रहण किए।

प्रधानमंत्री नेहरू ने हवाई अड्डे पर एक भाषण दिया। भाषण के बाद प्रधान मंत्री नेहरू उन लोगों के निकट गये जो उनके स्वागत के लिए एकत्र थे और उनकी ओर अभिवादन में अपना हाथ हिलाया। लोगों ने बड़े ज़ोर से तालियां बजायी। और बार बार ये नारे लगाये : "प्रधान मंत्री नेहरू, हम आपका स्वागत करते हैं" "चीन-भारत मंत्री जिन्दाबाद," "एशिया की शांति जिन्दाबाद," "विश्व शांति जिन्दाबाद।" नेहरू जी को गुलदस्ते भेंट किये गये।

प्रधान मंत्री चाओ एन-लाइ के साथ खुली गाड़ी में जब वह हवाई अड्डे से स्वागत-गृह को चले तो नगर की बाहरी बस्तियों और सड़कों पर, मार्ग के दोनों ओर पंक्तियों में खड़े, दो लाख से भी अधिक लोगों ने नारे लगा कर और तालियाँ बजा कर उनका स्वागत किया।

माओ त्से-तुङ द्वारा नेहरू का स्वागत

चीनी लोक गणतंत्र के अध्यक्ष माओ त्से-तुङ ने १६ अक्तूबर को अपराह्न ४:१० बजे भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू का, स्वागत किया।

इस स्वागत-समारोह में चीनी लोक गणतंत्र के उपाध्यक्ष चू तेह, राष्ट्रीय

लोक कांग्रेस की स्थायी समिति के अध्यक्ष त्यु शाओ-चि, राज्य परिषद् के प्रधान मंत्री चाओ एन-लाइ, राष्ट्रीय लोक कांग्रेस की स्थायी समिति के उपाध्यक्ष सूङ छिङ-लिङ और राज्य परिषद् के उपप्रधान मंत्री चेन युन भी उपस्थित थे।

चीन में भारत के राजदूत नेद्यम राघवन और भारत में चीन के राजदूत युआन चुङ श्येन भी वहाँ उपस्थित थे।

चाउ एन-लाइ की ओर से नेहरू के सम्मान में भोज

२० अक्तूबर को सायंकाल राज्य परिषद् के प्रधान मंत्री चाओ एन-लाइ ने भारतीय गणराज्य के प्रधान मंत्री श्री जवाहर लाल नेहरू के सम्मान में, एक शानदार भोज का आयोजन किया था।

७०० से ऊपर व्यक्ति वहाँ उपस्थित थे।

प्रधान मंत्री चाओ एन-लाइ ने इस भोज में एक भाषण दिया और फिर भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपति श्री प्रसाद की सेहत का जाम पेश किया। उस समय बैण्ड पर भारत का राष्ट्रीय गान बजाया गया।

उनके बाद प्रधान मंत्री नेहरू ने भाषण दिया और चीनी लोक गणतंत्र के अध्यक्ष श्री माओ त्ज़े-तुङ की सेहत का जाम पेश किया। उस समय बैण्ड पर चीन का राष्ट्रीय गान बजाया गया।

उपर्युक्त भोज में नेहरू जी का भाषण—

२० अक्टूबर के भोज में नेहरू जी ने जो भाषण किया था, वह इस प्रकार है—

जब मैं दिल्ली से पीकिङ आ रहा था तो पिछले और हाल के इतिहास की एक पूरी दृष्यावलि मेरे सामने घूम गयी। चीन और भारत ने दो हजार से भी अधिक वर्ष पहले एक दूसरे को जानना और समझना शुरू किया था। उसके बाद बहुत से धार्मिक तथा अन्य यात्री एक देश से दूसरे देश पहुँचे जो अपने साथ सद्भावना के सन्देश लाये और जिनके द्वारा संस्कृति और विचारों का आदान-प्रदान का ही उल्लेख मिलता है, संघर्ष का नहीं मिलता। यह इन दो महान् पड़ोसी देशों की एक गौरवपूर्ण विरासत है।

फिर एक ऐसा समय आया जब दोनों देश बाहरी शक्तियों के कारण एक दूसरे से बिल्कुल अलग-थलग हो गये। स्वाधीनता और स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने के बाद हम ने फिर एक दूसरे की ओर देखा और उन पुराने सम्पर्कों को, आज के नये संसार के अनुरूप, फिर से जीवित करने का विचार किया।

श्रीमान् प्रधान मंत्री जी, कुछ महीने पहले जब आप थोड़े समय के लिए भारत पधारे थे तो आपके आगमन का हमने न केवल स्वागत किया था, बल्कि उसका एक ऐतिहासिक महत्व माना था। भारत की हमारी जनता ने उसके महत्त्व का अनुभव किया था और आपका उत्साहपूर्ण स्वागत किया था। इसी प्रकार जब उसे पता चला कि मैं इस महान् और प्राचीन देश को आ रहा हूँ तो उसने मेरी यात्रा को बहुत महत्त्व दिया और इसे भारत और चीन दोनों के लिए एक महत्त्वपूर्ण घटना समझा। पीकिङ के लोगों ने कल मेरा जो शानदार स्वागत किया है, और जिसके लिए मैं सदैव कृतज्ञ रहूँगा, वह भी इस बात का संकेत है कि इस देश की जनता ने यह समझ लिया है कि यह यात्रा केवल एक व्यक्ति का आगमन नहीं है बल्कि उससे कुछ अधिक है वह स्वागत मेरा नहीं था बल्कि उस देश का था जिसका प्रतिनिधि होने का गौरव और सौभाग्य मुझे प्राप्त है। जनता की यह चेतना इतिहास का निर्माण करने वाली शक्तियों और धाराओं की, राजनीतिक नेताओं और राजनीतिज्ञों की इच्छाओं से भी अधिक सच्ची कसौटी है।

अतः, मुझमें कोई गुण चाहे हो या न हो, लेकिन स्थिति यह हो गई है कि मेरी इस यात्रा ने हमारे इन दो महान् देशों के आपसी सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त कर लिया है। भारत और चीन का आपसी सम्बन्ध हर समय बहुत महत्त्व रखेगा। आज के इस भ्रान्त और विषम संसार में तो इसका महत्त्व और भी अधिक हो सकता है। आखिर इन्सान किसी भी अन्य चीज से अधिक महत्त्व रखते हैं, और चीन और भारत में बसने वाले लगभग १ अरब इन्सानों का बहुत महत्त्व है।

अपने पिछले इतिहास में हमारे अलग-अलग अनुभव रहे हैं और हम ने अक्सर अलग-अलग रास्ते चुने हैं। वर्तमान काल में भी, हो सकता है हम

कुछ चीजों पर सहमत न हों। लेकिन इससे इस बुनियादी सचाई को नहीं छिपाया जा सकता कि हमारे बहुत से अनुभव एक-जैसे रहे हैं, हम में बहुत कुछ समानता है और हमारे इन दो देशों और उनके लोगों में निश्चित रूप से परस्पर सद्भावना और मित्रता है। इस कलहपूर्ण संसार में यह एक बहुत बड़ा लाभ है। आज संसार की सबसे बड़ी आवश्यकता है—शान्ति, और मुझे विश्वास है कि चीन की जनता, भारत की जनता की तरह, शान्ति के ध्येय में संलग्न है।

श्रीमान् प्रधान मंत्री जी! आप जब भारत पधारे थे तो हमने एक संयुक्त वक्तव्य जारी किया था जिसमें हमारे आपसी सम्बन्ध को शासित करने वाले पांच सिद्धान्त सम्मिलित थे। उन सिद्धान्तों में यह महान् नियम प्रतिपादित किया गया था कि प्रत्येक देश स्वतंत्र और स्वाधीन रहे; अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करे; दूसरों के साथ मित्रता रखे और कोई देश किसी प्रकार का हस्तक्षेप उसमें न करे। यदि उन सिद्धान्तों पर आज दुनिया में अमल किया जाए तो बहुत से झगड़े, जो राष्ट्रों को कष्ट दे रहे हैं, खत्म हो जाएँगे। चीन एक महान् और विशाल देश है जिसमें बहुत प्रकार के लोग बसते हैं। भारत में हम जहाँ अपनी बुनियादी एकता को मजबूत करते हैं वहाँ साथ ही इस विभिन्नता को भी, जो हमारे राष्ट्रीय जीवन को समृद्ध करती है, मान्यता देते हैं। हम उन लोगों पर, जो किसी एक प्रकार के जीवन के अभ्यस्त हैं किसी दूसरे प्रकार के जीवन को थोपना नहीं चाहते। इस प्रकार, हम अपने राष्ट्रीय जीवन के क्षेत्र में भी इस विभिन्नता को मान्यता देते हैं और कायम रखते हैं क्योंकि हम यह अनुभव करते हैं कि केवल इसी प्रकार राष्ट्र और जनता का पूर्ण विकास हो सकेगा।

यदि एक राष्ट्र में ही स्थिति यह है तो विभिन्न राष्ट्रों में यह चीज कितनी अधिक होगी? एक राष्ट्र की इच्छा को अन्य राष्ट्र पर या एक देश के लोगों की जीवन प्रणालियों को दूसरे देश के लोगों पर थोपने का जो प्रयत्न है, वह अवश्य कलह पैदा करेगा और शांति को संकट में डालेगा। यही कारण है कि हम एक देश पर दूसरे देश के शासन का सदा विरोध करते आये हैं।

इस प्रकार, जिस तरह दलों के लिए उसी तरह राष्ट्रों के लिए भी एक-मात्र सही और व्यवहारिक मार्ग यही है कि वे, अपने दृष्टिकोण और जीवन-प्रणाली में भिन्नता रखते हुए भी, परस्पर सह-अस्तित्व को मान्यता दें। किसी अन्य मार्ग या इसमें किसी प्रकार के हस्तक्षेप का अर्थ है—कलह।

हम संसार में काफी से अधिक कलह, द्वेष और बरबादी देख चुके हैं। प्रत्येक देश की जनता शांति तथा अपने विकास के लिए बेचैन है। द्वेष और हिंसा से, जो अपने साथ केवल बरबादी नहीं लाते बल्कि मानवता के विकास को भी रोकते हैं, किसी भी व्यक्ति और किसी भी राष्ट्र की वृद्धि नहीं हो सकती।

इसी गम्भीर विश्वास के साथ, जिसकी हमारे महान् नेता महात्मा गांधी ने हमें शिक्षा दी है, हम ने, जितनी भी योग्यता हम में है उसके अनुसार, शांति के लिए प्रयत्न किया है। लेकिन युद्ध का अभाव ही शांति नहीं है। यह एक ऐसी चीज है जो ठोस है। यह जीवन का एक मार्ग है और चिन्तन और आचरण की एक प्रणाली है। केवल इसी प्रकार हम शान्ति का वास्तविक वातावरण पैदा कर सकते हैं जो हमें राष्ट्रों के आपसी सहयोग की ओर ले जायगा।

मुझे पक्का यकीन है कि चीन और भारत के लोग इस महान् उद्देश्य में, जिसके बिना संसार के लिए कोई आशा नहीं है, अपने आपको लगा देंगे और इसके लिए प्रयत्न करेंगे।

जिस उमंग और प्रेम के साथ इस देश के लोगों ने मेरा स्वागत किया है, मैं उसके लिए पूरी तरह कृतज्ञता प्रकट करने को उचित शब्द नहीं पा रहा हूँ। यद्यपि मेरी यात्रा अभी आरम्भ हुई है, फिर भी उनके अति उदार स्वागत ने मुझे गद्‌गद् कर दिया है। श्रीमान् प्रधान मंत्री जी, मैं चीन के महान नेता चेयरमैन माओ त्से-तुङ के प्रति, आपके प्रति और आपकी सरकार के प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ।

भारतीय राजदूत की ओर से प्रधान मंत्री नेहरू के सम्मान में आयोजित स्वागत-भोज में चीन सरकार के अध्यक्ष श्री माओ

चीन में भारत के राजदूत श्री नेदम राघवन ने २१ अक्तूबर को सायंकाल

भारत के प्रधान मंत्री श्री जवाहर लाल नेहरू के सम्मान में, जो आजकल चीन की यात्रा कर रहे हैं, एक स्वागत-भोज का आयोजन किया।

इस भोज में ३०० से अधिक लोगों ने भाग लिया।

भारतीय पक्ष की ओर से वहाँ प्रधान मंत्री नेहरू और उनकी पुत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी, भारतीय परराष्ट्र मंत्रालय के प्रधान सचिव एन. आर. पिल्ले और उपसचिव बहादुर सिंह, एम. एल. गोंद, के. एफ. रुस्तम जी, एन. के. सेशन तथा प्रधान मंत्री नेहरू के दल के तीन और सदस्य उपस्थित थे।

चीनी पक्ष की ओर से इस भोज में चीनी लोक गणतंत्र के अध्यक्ष माओ त्जे-तुङ और उपाध्यक्ष चु तेह, राष्ट्रीय लोक कांग्रेस की स्थायी समिति के अध्यक्ष ल्यु शाओ-चि और राज्य परिषद् के प्रधान मंत्री चाओ एन-लाइ उपस्थित थे।

भोज में राष्ट्रीय लोक कांग्रेस की स्थायी समिति के उपाध्यक्ष तथा सदस्य, राज्य परिषद् के उप प्रधान मंत्री प्रधान सचिव, मंत्री और कमीशनों के अध्यक्ष सर्वोच्च लोक न्यायालय के प्रधान तथा चीनी लोक मुक्ति सेना के उच्च अधिकारी भी उपस्थित थे।

चीन-भारत मैत्री संघ तथा अन्य जनवादी संगठनों के प्रमुख सदस्यों ने भी भोज में भाग लिया।

विभिन्न देशों के राजदूत भी वहाँ उपस्थित थे।

राजदूत राघवन ने इस भोज में पहला जाम पेश करते हुए कहा: "मैं चीन की महान जनता के प्रिय नेता, भारत के महान मित्र, विश्व शान्ति के प्रबल समर्थक, महा महिम चेयरमैन माओ त्जे-तुङ की सेहत का जाम पेश करता हूँ।"

बैंड पर चीनी लोक गणतंत्र का राष्ट्रीय गान बजाया गया।

फिर चेयरमैन माओ त्जे-तुङ ने अपनी ओर से जाम पेश करते हुए कहा:
"चीनी और भारतीय जनता दृढ़तापूर्वक शान्ति के पक्ष में है। हमारे इन दोनों देशों के लोग, पूरे संसार के लोगों की तरह, शान्ति के लिए दृढ़संकल्प होकर कार्य कर रहे हैं।"

"आइए, हम चीन और भारत की जनता के सहयोग के लिए और दोनों देशों की जनता की समृद्धि के लिए,

विश्व शान्ति के लिए,

भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपति श्री प्रसाद के स्वास्थ्य के लिए,

प्रधान मंत्री नेहरू की इस यात्रा और उनके स्वास्थ्य के लिए,

आज के इस भोज के मेज़बान राजदूत राघवन के स्वास्थ्य के लिए मधु-पान करें।

चीनी जनता के नाम रेडियो पर प्रसारित नेहरू जी का भाषण

२७ अक्तूबर को प्रातःकाल पीकिङ रेडियो ने भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू का एक भाषण प्रसारित किया जो पहले दिन रिकार्ड किया गया था। उनका भाषण इस प्रकार है।

एक सप्ताह पहले मैं पीकिङ पहुँचा था और कल इस प्रसिद्ध और उदार नगर से विदा लेने वाला हूँ। तीन दिन बाद मैं चीन से वापस भारत के लिए रवाना हो जाऊँगा।

मैं नये चीन के, जिसकी कुछ झाँकियाँ लेने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है, अगणित प्रभाव अपने साथ ले जाऊँगा। सबसे अधिक, मैं उस भरपूर मित्रता और सत्कार की स्मृति अपने साथ ले जाऊँगा जो चीन के उदार-हृदय लोगों से मुझे मिली है। वह स्मृति बनी रहेगी और मैं चीनी जनता की कृपा और प्रेम को कभी नहीं भूल सकूँगा।

२० वर्ष पहले चीन में 'सुदीर्घ अभियान' शुरू हुआ था। मुझे याद है है कि मैं उसके समाचारों को रोमांच और प्रशंसा की भावना के साथ पढ़ा करता था। वह अभियान सैनिक इतिहास में योग्यता और जबर्दस्त सहनशीलता के एक कारनामे के रूप में स्मरणीय बन गया है। मेरे लिये वह अभियान एक राष्ट्र और उसकी जनता के सुदीर्घ अभियान का प्रतीक बन गया था।

चीन और भारत, दोनों ही बहुत वर्षों से अपने स्वाधीनता और समृद्धि के अभियान में व्यस्त हैं। हम विभिन्न मार्गों पर चलते हुए आज अपनी यात्रा के एक पड़ाव पर आ पहुँचे हैं एक महत्वपूर्ण पड़ाव है जहाँ हम स्वतन्त्र और

प्रभुसत्ता-सम्पन्न देशों की तरह कामकर सकते हैं। लेकिन फिर भी वह एक पड़ाव ही है और इससे पहले कि हमारी अगणित जनता सुख और समृद्धि के उस स्तर पर पहुँचे जिस पर कि उसे पहुँचना चाहिये, हमें अभी काफी आगे बढ़ना है।

इस प्रकार हमारे ये दोनों देश इस महान प्रयत्न में संलग्न हैं और मैं महसूस करता हूँ कि दोनों ही एक दूसरे से कुछ सीख सकते हैं। भले ही उनकी समस्याएँ कुछ हद तक अलग-अलग हों और उनके तरीके भी एक-जैसे न हों, फिर भी वे दोनों अनेक तरह से आपस में सहयोग कर सकते हैं। दो राष्ट्रों और उनके लोगों में जो महत्वपूर्ण चीज है, वह सहिष्णुता और मित्रता की भावना है यदि ये हैं तो चीजें स्वयं में आ जाती हैं मुझे विश्वास है कि चीन और भारत में ये दोनों चीजें मौजूद हैं।

मैं भारत में अपने काम पर जो काफी भारी है लौट जाऊँगा। लेकिन, इस महान चीन देश के अपने स्वल्प प्रवास की और इसकी महान जनता की मधुर स्मृतियाँ मेरे साथ रहेंगी। ये स्मृतियाँ मुझे साहस और बल प्रदान करेंगी। मुझे हृदय से आशा है कि उन महान प्रयत्नों में जिनमें हम संलग्न हैं, और संसार में शान्ति की सुदृढ़ स्थापना के महानतम प्रयत्न में हमारे ये दोनों देश परस्पर सहयोग करेंगे और सहायता पहुँचाएँगे।

मैं पीकिङ के लोगों के प्रति और चीन की सरकार और जनता के प्रति उनकी मित्रता और सत्कार के लिए एक बार फिर अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ।

नेहरू जी का माओ त्ज़े-तुङ को धन्यवाद का संदेश

भारतीय गणराज्य के प्रधान मंत्री जवाहर लाल नेहरू ने ३० अक्तूबर को कैण्टन से भारत के लिए रवाना होने से पहले चीनी लोक गणतंत्र क अध्यक्ष माओ त्ज़े-तुङ को धन्यवाद का एक संदेश भेजा। संदेश इस प्रकार है:

इस संक्षिप्त किन्तु कभी न भुलाई जा सकने वाली स्मरणीय यात्रा के बाद चीन से बिदा होते हुए मैं एक बार फिर आपको इस उदार सत्कार और मित्रता के लिए जो मुझे मिला है धन्यवाद और कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ।
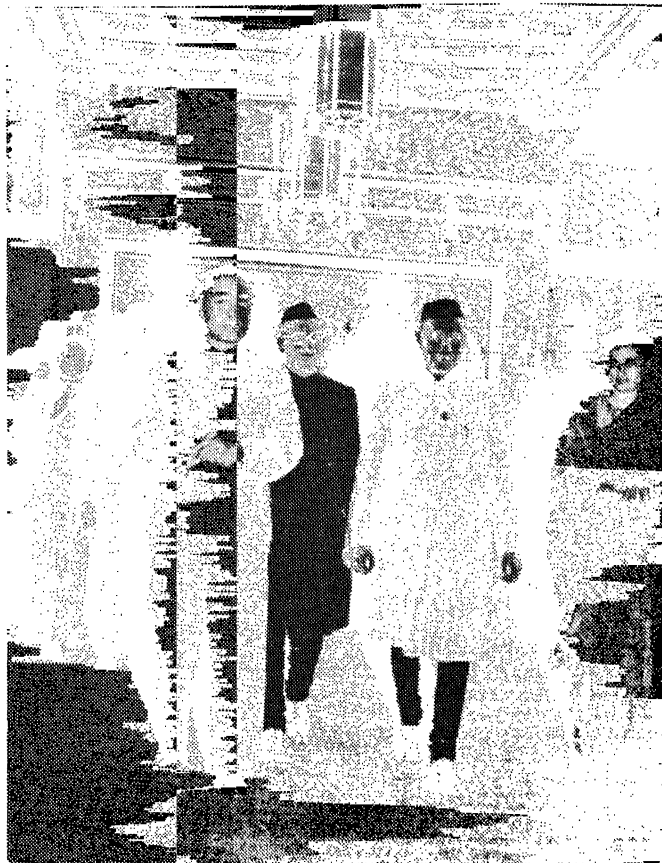
पं० नेहरू और इन्दिरा गांधी श्री चाओ-अन-लाई के साथ
पेकिंग के पुराने राजप्रासाद में

मैं इसे हमारे इन दो देशों और उनके लोगों को मित्रता का प्रतीक मानता हूँ मुझे आशा है कि ये दोनों एक दूसरे के हितों के लिये और विश्व शान्ति के लिये आपस में और भी अधिक सहयोग करेंगे।

नेहरू जी का चीन के प्रधान मन्त्री चाउ एन-लाइ को धन्यवाद का सन्देश

भारतीय गणराज्य के प्रधान मन्त्री जवाहर लाल नेहरू ने ३० अक्तूबर को कैण्टन से भारत के लिये रवाना होने से पहले चीनी लोक गणतन्त्र की राज्य परिषद् के प्रधान मन्त्री चाओ एन-लाई को धन्यवाद का एक सन्देश भेजा। सन्देश इस प्रकार है :—

इस महान देश की हमारी यह संक्षिप्त यात्रा समाप्त हो गई है और हम यहाँ से अब घर के लिए बिदा हो रहे हैं। मुझे यहाँ आकर, जो महान कार्य यहाँ चल रहा है उसकी कुछ झलक देखकर, तथा चीन जनता के नेताओं से मिलने का अवसर प्राप्त कर बड़ी प्रसन्नता हुई है। मैंने एक महान राष्ट्र को, जो न केवल विस्तार में बल्कि गुणों और भावना में भी महान है, देखा है। मैं इस मित्रता और आदर-सत्कार के लिए, जो इस पूरे प्रवास में मेरे चारों ओर उमड़ रहा है, आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

परिशिष्ट—१

भारत और चीन के तिब्बत प्रदेश के बीच व्यापार और संसर्ग के विषय में भारत गणराज्य और चीन के लोक गणराज्य का इकरारनामा, (२९ अप्रैल, १९५४) ।

भारत गणराज्य की सरकार और चीन के लोक गणराज्य की केन्द्रीय लोक सरकार यह चाहती हैं कि भारत और चीन के तिब्बत प्रदेश के बीच व्यापार और सांस्कृतिक संसर्ग बढ़ाया जाय और दोनों देशों की जनता को एक दूसरे के देश में तीर्थ-यात्रा और सफर की सुविधायें हों। इस उद्देश्य से इन्होंने नीचे लिखे सिद्धान्तों के आधार पर इकरारनामा करने का निश्चय किया है—

(क) एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और प्रभुता का आदर करना।

(ख) एक दूसरे पर कभी हमला न करना।

(ग) एक दूसरे के अन्दरूनी मामलों में दखल न देना।

(घ) समता और परस्पर हित की नीति अपनाना।

(च) शान्ति से साथ-साथ रहना।

इस उद्देश्य से उन्होंने अपने-अपने पूर्णाधिकारी नियुक्त किये हैं जो भारत सरकार की तरफ से चीन के लोक गणराज्य में मोतबिर रूप से भेजे हुए भारत सरकार के असाधारण पूर्णाधिकारी राजदूत परम श्रेष्ठ नेड्यिम राघवन

और चीन के लोक गणराज्य की केन्द्रीय लोक सरकार के विदेश विभाग के उप-मन्त्री परम श्रेष्ठ चांग हान्-फू हैं। इन दोनों ने एक दूसरे के अधिकार पत्रों को भली भांति देख कर और उनको उचित और ठीक रूप में पाकर निम्नलिखित बातें स्वीकार की है—

अनुच्छेद—१

दोनों उच्च पक्षों ने व्यापारी एजेन्सियाँ स्थापित करने का आपस में निश्चय किया है।

१—भारत सरकार इस बात पर राजी है कि चीन सरकार नयी दिल्ली, कलकत्ता और कालिमपोंग में व्यापारी एजेंसियाँ स्थापित करे।

२—चीन सरकार इस बात पर राजी है कि यातुंग, ग्यांत्से और गर्तोक में भारत सरकार व्यापारी एजेंसियाँ स्थापित करे।

दोनों पक्षों की व्यापारी एजेंसियों को एक जैसा पद और एक जैसा बर्ताव मिलेगा। दोनों पक्षों के व्यापारी एजेंटों को अपने पदकर्तव्य के पालन में गिरफ्तारी से मुक्ति होगी और उनकी स्त्रियों की और उनकी सन्तान की जो उन पर पालन-पोषण के लिये निर्भर हैं, तलाशी से मुक्ति होगी। दोनों पक्षों की व्यापारी एजेंसियों को हरकारों, डाक के थैलों और कोड के सन्देश भेजने के बारे में रियायत व छूट होगी।

अनुच्छेद—२

दोनों उच्च पक्ष इस बात पर राजी हैं कि उन परिचित व्यापारियों को जो चीन के तिब्बत प्रदेश और भारत के बीच रीति के अनुसार और निर्दिष्टता से व्यापार करते रहे हैं, निम्नलिखित स्थानों में व्यापार करने की इजाजत होगी :—

१—चीन सरकार निम्नलिखित व्यापार केन्द्र (मार्केट्स फॉर ट्रेड) निर्दिष्ट करती है : (क) यातुंग (ख) ग्यांत्से (ग) फारी। भारत सरकार इस

बात पर राजी है कि रीति के अनुसार भारत में जिसमें कालिमपोंग, सिलीगुरी, कलकत्ता जैसे स्थान शामिल हैं, व्यापार किया जाय।

२—चीन सरकार निम्नलिखित व्यापार केन्द्र (मार्केट्स फॉर ट्रेड) निर्दिष्ट करती है : (क) गर्तोक (ख) पुलनचुंग (तकलाकोट) (ग) ग्यानिमा खारगो (घ) ग्यानिमा चक्र (च) रामूरा (छ) डोंगब्रा (ज) पुलिंग समदो (झ) नाबरा (त) शंगत्सी, और (थ) ताशीगोंग।

भारत सरकार इस बात पर राजी है कि भविष्य में चीन के तिब्बत प्रदेश के आरी जिले और भारत के बीच में होने वाले व्यापार के विकास और आवश्यकता के अनुसार जब चीन के तिब्बत प्रदेश के आरी जिले से मिले हुए भारत के जिले में व्यापार के केन्द्र (मार्केट्स फार ट्रेड) निर्दिष्ट करने आवश्यक हों तो वे समानता और पारस्परिकता के आधार पर ऐसा करने का विचार करने के लिए तैयार होगी।

अनुच्छेद—३

दोनों उच्च पक्ष इस बात पर राजी हैं कि दोनों देशों के धार्मिक तीर्थयात्री निम्नलिखित शर्तों के अनुसार तीर्थयात्रा कर सकेंगे :—

१—भारत के लामा, हिन्दू और बौद्ध धर्मों के मानने वाले तीर्थयात्री रीति के अनुसार चीन के तिब्बत प्रदेश में कांगरिपोचे (कैलाश) और मवांत्सो (मानसरोवर) में आ-जा सकते हैं।

२—चीन के तिब्बत प्रदेश के लामा और बौद्ध धर्मों को मानने वाले तीर्थयात्री भारत में, रीति अनुसार बनारस, सारनाथ, गया और सांची में आ जा सकते हैं।

३—जो तीर्थयात्री यथारीति ल्हासा जाते रहे हैं, वह अब भी रीतिअनुसार वहाँ आ जा सकते हैं।

अनुच्छेद—४

दोनों देशों के व्यापारी और तीर्थयात्री नीचे लिखे दर्रों और रास्ते से आ जा सकते हैं :—

(क) शिपकी ला दर्रा

(ख) माना दर्रा

(ग) नीति दर्रा

(घ) कुंगरी बिंगरी दर्रा

(च) दरमा दर्रा

(छ) लिपू लेख दर्रा

इसके अलावा रिवाजी रास्ता जो ताशीगांग को शांगांत संगपू (सिंध) नदी की घाटी के साथ साथ जाता है, वह रीति अनुसार आयन्दा भी इस्तेमाल किया जाता रहेगा ।

अनुच्छेद—५

दोनों उच्च पक्ष इस बात पर राजी हैं कि सीमा-पार यात्रा करने के लिए दोनों देशों के कूटनीतिक कार्यकर्ताओं, अधिकारियों और राष्ट्रवासियों को पासपोर्ट रखना आवश्यक होगा । यह पासपोर्ट अपने अपने देशों से जारी होंगे और इनका वीज़ा दूसरे देश की तरफ से दिया जायेगा । परन्तु नीचे लिखे १,२,३,४ खंडों में वर्णित राष्ट्रवासियों के लिये इसका अपवाद भी होगा :-

१—दोनों देशों के उन परिचित व्यापारियों को जो रीतिअनुसार और निर्दिष्टता से चीन के तिब्बत प्रदेश और भारत के बीच व्यापार करते रहे हों, उनकी स्त्रियों और संतान को जो उनपर पालन-पोषण के लिए निर्भर हैं और उनके नौकर-चाकरों को भारत या चीन के तिब्बत प्रदेश में, यथोचित व्यापार के लिए प्रवेश करने की अनुमति यथारीति दी जायेगी जब वह उन प्रमाणपत्रों को पेश कर देंगे जो उनके देशों की स्थानिक सरकार ने या उनके यथानियम अधिकार प्राप्त एजेण्टों ने जारी किये हों और उनका दूसरे देश की सरहदी जांच चौकी पर निरीक्षण किया जा चुका हो ।

२—दोनों देशों के सरहदी जिलों के निवासी जो छोटा-मोटा व्यापार करने के लिये या अपने मित्रों और सम्बन्धियों से मिलने के लिये सीमा पार करते

हैं, दूसरे देश की सीमा के साथ वाले जिलों में रीति अनुसार, जैसे अब तक, आ जा सकते हैं और उन पर अनुच्छेद ४ में वर्णित दर्रों या रास्ते की पाबन्दी नहीं होगी और उनको पासपोर्ट, वीज़ा या आज्ञा-पत्र लेने की जरूरत न होगी।

३—दोनों देशों के पोरटरों व खच्चर चलाने वालों को जो आवश्यक यातायात के काम में सीमा पार करते हैं, अपने देश से जारी किये हुए पासपोर्ट लेने की आवश्यकता न होगी। परन्तु उनको केवल निश्चित समय के लिये मान्य (तीन महीने, आधे साल, या एक साल के लिये) प्रमाणपत्र लेने होंगे जो उनकी स्थानिक सरकार ने या उनके यथानियम अधिकार प्राप्त एजेंटों ने जारी किये हों। इन प्रमाणपत्रों की दूसरे पक्ष की सरहदी जाच चौकियों में रजिस्ट्री करानी होगी।

४—दोनों देशों के तीर्थ-यात्रियों के लिए प्रमाणीकरण लेख-पत्र लेना आवश्यक नहीं है। परन्तु उनको दूसरे पक्ष की सरहदी जांच-चोकियों में अपने नाम की रजिस्ट्री करानी पड़ेगी और तीर्थ-यात्रा के लिए उनको आज्ञा-पत्र मिलेगा।

५—इस अनुच्छेद के गत खंडों में लिखी शर्तों के बावजूद दोनों सरकारें अपने-अपने देश में किसी भी व्यक्ति के प्रवेश को रोक सकती है।

६—जो व्यक्ति दूसरे पक्ष के इलाके में इस अनुच्छेद के गत खंडों की शर्तों के अनुसार प्रवेश करे वह उस पक्ष की नियत की हुई प्रणालियों पर अमल करने के बाद ही उस पक्ष के इलाके में ठहर सकते हैं।

अनुच्छेद—६

यह इकरारनामा दोनों सरकारों की मंजूरी की तिथि से अमल में आ जायेगा और आठ वर्ष तक चालू रहेगा। दोनों पक्ष इस इकरारनामे को और समय तक बढ़ाने के लिये बातचीत कर सकते हैं यदि कोई एक पक्ष आठ वर्ष पूरे होने के छः महीने पहले ऐसा करने की मांग करे और दूसरा पक्ष इस मांग को स्वीकार कर ले।

इस इक़रारनामे के हिन्दी, चीनी और अंग्रेजी में दो दो प्रतिरूप २६ अप्रैल १६५४ को पीकिंग में लिखे गये हैं। इकरारनामा तीनों भाषाओं में एक सा मान्य होगा।

(नेडियम राघवन)
भारत के गणराज्य की सरकार
का पूर्णाधिकारी

(चांग हान्-फू)
चीन के लोक गणराज्य की केन्द्रीय
लोक सरकार का पूर्णाधिकारी

(भारत सरकार के सूचना विभाग द्वारा प्रचारित अनुवाद)

परिशिष्ट—२

संसद में हिन्द-चीन पर भारत के प्रधान मंत्री नेहरूजी का वक्तव्य (२४ अप्रैल, १९५४)।

शनिवार २४ अप्रैल १९५४ को लोक-सभा में प्रधान मन्त्री ने हिन्दचीन के सम्बन्ध में जो वक्तव्य दिया उसका हिन्दी रूपान्तर नीचे दिया जाता है:—

सदन को मालूम है कि पिछले फरवरी के महीने में कोरिया और हिन्द-चीन की समस्याओं पर विचार करने के लिए फ्रान्स, अमेरिका, रूस और ब्रिटेन अपना और साथ ही गणराज्य चीन का एक मिला जुला सम्मेलन करने को सहमत हुए थे। इसमें सम्मिलित होने के लिए दूसरे सम्बद्ध देश भी आमंत्रित किये जायंगे। इस सम्मेलन का अधिवेशन अगले सप्ताह जेनेवा में शुरू होगा। न तो हम इस सम्मेलन में और न उस लड़ाई में शामिल हैं जो हिन्द चीन में चल रही है। फिर भी हिन्द चीन की समस्या के प्रति हमारी दिलचस्पी और गहरी चिन्ता भी है और इसको लेकर हाल में जो घटनाएँ हुई हैं उनके सम्बन्ध में हम खास तौर से चिन्तित हैं। हम इस बात की भी फिक्र में हैं कि जेनेवा सम्मेलन बातचीत के द्वारा इस प्रश्न का निपटारा करने का प्रयत्न करे और ऐसा करने में उसे सफलता मिले, ताकि लड़ाई की वह छाया मिट जाय जिसके कारण पड़ोस के क्षेत्रों में बहुत दिनों से अन्धेरा छाया हुआ है और जिसके और भी अधिक फैलने तथा गहरी हो जाने का भय है।

जिस प्रकार का दृष्टिकोण रचनात्मक और लाभदायक सिद्ध हो सकता है उसके लिए इस समस्या की आधारभूत वास्तविकताओं, निहित राष्ट्रीय तथा राजनीतिक भावनाओं और पृष्ठभूमि तथा वहाँ की वर्तमान स्थिति को भली प्रकार समझने की आवश्यकता है।

अपने मूल और वास्तविक रूप में हिन्दचीन की लड़ाई उपनिवेशवाद के विरोध का आन्दोलन है और इस आन्दोलन को दमन और 'फूट डालो' और 'शासन करो' की परम्परागत प्रणाली द्वारा दबाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

विदेशी हस्तक्षेप से यह समस्या और भी जटिल हो गयी है, किन्तु फिर भी, मूलतः वह उपनिवेश-विरोधी और राष्ट्रीय ही है। इस तथ्य को मानते हुए, स्वतंत्रता एवं स्वाधीनता की राष्ट्रीय भावनाओं को ध्यान में रख कर और बाहरी दबावों से उनकी रक्षा करके ही, समझौते व शांतिकी बुनियाद डाली जा सकती है। भारी युद्धास्त्रों के प्रयोग और बड़े पैमाने की लड़ाई के बावजूद, इस संघर्ष का स्वरूप आज भी एक गुरिल्ला-युद्ध सा ही है, जिसमें कोई निश्चित या स्थायी सीमाएँ नहीं हैं। देश प्रतिद्वंद्वी शक्तियों के बीच बँट गया है, लेकिन इलाकों की कोई स्थायी सीमाएँ नहीं हैं। भूमि की बड़ी बड़ी टुकड़ियाँ और इलाकों व आबादियों के खंड, एक-एक दिन में या रात-रात भर में एक पक्षसे दूसरे पक्ष के प्रति अपनी निष्ठा बदलते रहते हैं। लड़ाइयाँ जीती और हारी जाती हैं, स्थान हाथ में आते और निकलते रहते हैं, किन्तु युद्ध वर्ष-प्रति वर्ष अधिकाधिक भयंकरता से चलता जा रहा है। लाखों हिंदचीनी, चाहे वे लड़ाई में शामिल हों या दूसरे लोग हों और वे चाहे जिस पक्ष के हों, मरते, घायल होते या अन्य प्रकार से मुसीबत में पड़ते हैं और उनका देश वीरान होता जाता है।

हिंदचीन में साम्राज्यवाद का विरोध एक बड़े आन्दोलन के रूप में, सन् १९४० में, जापानी अधिकार के खिलाफ शुरू हुआ था। जापान-विरोधी इस युद्ध में अमेरिकन और मित्र देशों की सेनाओं की सहायता वियतमिन्ह (१९४१ में स्थापित) तथा अन्य राष्ट्रीय व दूसरे गुटोंने की थी, जिस के नेता हो-ची मिन्ह थे। उस समय वियतमिन्ह की ओर से जो घोषणा की गयी थी उसमें "अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और चीन द्वारा 'लोकतंत्रात्मक सिद्धांतों की रक्षा' का उल्लेख था और इन बड़े राष्ट्रों से अनुरोध किया गया था कि वे घोषित करें कि जापानियों के पराजित हो जानेके बाद हिन्द चीनी जनता को पूर्ण स्वायत्त शासन प्राप्त होगा।"

द्वितीय महायुद्ध के बाद एक अस्थायी सरकार, जिसके १५ सदस्यों में ५ कम्युनिस्ट थे और जिसे नरम राष्ट्रवादियों, कैथोलिकों और दूसरों का समर्थन प्राप्त था, स्थापित की गयी। हो-ची मिन्ह वियत-नामके लोकतंत्रात्मक गणराज्य के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। इस गणराज्य की घोषणा सितम्बर, १९४५ में की गयी और तत्कालीन चीन सरकार ने इसे स्वीकार कर लिया। ६ मार्च, १९४६ को फ्रांस ने, जो युद्ध के बाद हिन्द चीन में वापस आ गया था, हो-ची मिन्ह के साथ एक करार पर हस्ताक्षर किये। इसके द्वारा फ्रांस ने वियत-नामके लोकतंत्रात्मक गणराज्य को एक स्वतंत्र राज्य के रूप में, जिसकी खुद अपनी सरकार, संसद, सेना तथा वित्त-व्यवस्था है और जो हिन्द चीनी फेडरेशन तथा फ्रेंच यूनियन का एक भाग है, स्वीकार कर लिया। किन्तु यह व्यवस्था अधिक दिनों तक नहीं चल सकी। हो-ची मिन्ह के गणराज्य और फ्रेंच साम्राज्य के बीच सन् १९४७में संघर्ष शुरू हुआ और तब से बराबर जारी है। जून, १९४८ में, फ्रांस ने अनाम के भूतपूर्व सम्राट, बाओदाई के साथ एक करार पर हस्ताक्षर किये और उन्हें वियतनामका अध्यक्ष बना दिया और वियतनाम को फ्रेंच यूनियन के अन्दर एक सम्बद्ध राज्य (असोशियेट स्टेट) के रूप में मान्यता प्रदान की। हिन्द-चीन के दो राज्यों, लाओस और कम्बोडिया के साथ भी फ्रांस ने इसी प्रकार के समझौते किये।

यही वह अवसर है, जब हिन्द चीन की लड़ाई ने अपना वर्तमान अशुभ स्वरूप—जो बड़ी शक्तियों के दो गुटों के संघर्ष का प्रतिबिम्ब है—धारण करना आरम्भ किया। अमेरिका ने फ्रांस को माली और लड़ाई के सामान की जो सहायता दी थी, वह फ्रांसीसियों को हिन्द-चीन के युद्ध के लिए उपलब्ध हुई। दूसरी ओर कहा जाता है कि वियत मिन्ह ने यह कहते हुए कि लड़ाई फ्रांसीसी उपनिवेशवाद के विरूद्ध लड़ी जा रही है, जनगणराज्य चीन से आर्थिक सहायता प्राप्त की। जन गणराज्य चीन ने वियतनाम के लोकतंत्रात्मक गणराज्य (वियत मिन्ह) को वह मान्यता जारी रखी, जो उसे पहले की चीन सरकार ने प्रदान की थी।

हस्तक्षेप पर हस्तक्षेप होते रहे और युद्ध की भयंकरता बढ़ती गयी। सम-

झौते की बातचीत में अधिकाधिक कठिनाइयाँ पड़ती गयीं और वह विफल होती गयीं। हालके महीनों की घटनायें इसी पृष्ठभूमि के बाद उपस्थित हुई हैं।

इनमें से पहली घटना बर्लिन में एकत्र हुई शक्तियों का यह निर्णय है कि इस समस्या पर जेनेवा में विचार किया जाय। हमने इस सम्मेलन का स्वागत किया और आशा प्रकट की कि इसके फलस्वरूप हिन्द चीन में शांति की स्थापना सम्भव हो सकेगी। हमने समझा कि इस प्रकार बातचीत के द्वारा सुलह व समझौते का रास्ता अपनाया जा रहा है। उसी समय मैंने इस सदन में एक वक्तव्य देकर हिन्द-चीन में लड़ाई बन्द करने की अपील की, जिसका स्वागत सदन में सर्व सम्मति से किया गया।

यद्यपि जेनेवा सम्मेलन का निश्चय एक सराहनीय घटना थी, किन्तु शीघ्र ही बाद की घटनाओं ने चिन्ता और भय के भाव उत्पन्न कर दिये। ये घटनाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) तुरन्त और बड़े पैमाने पर बदला लेने और चीन के मुख्य भू-खंड पर सम्भाव्य आक्रमण का बार बार उल्लेख और हिन्द-चीन की लड़ाई की परिधि व जोर बढ़ाने के विषय में दिये गये वक्तव्य ;

(२) दक्षिण-पूर्वी एशिया में 'सम्मिलित एवं सामूहिक, कार्रवाई के लिए पश्चिमी देशों, "एनजस" शक्तियों और कई एशियायी राज्यों को निमंत्रण। इसके पहले ऐसे वक्तव्य दिये जा चुके हैं, जो दक्षिण-पूर्व एशियायी देशों पर एक प्रकार का संरक्षण रखने तथा उनके सम्बन्ध में एक तरह के "मुनरो सिद्धांत" की घोषणा करने के बराबर हैं।

इस प्रकार हिन्द-चीन के मामले में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करने, युद्ध को अन्तरराष्ट्रीय बना देने और उसकी परिधि व जोर को बढ़ा देने के तात्कालिक चिन्ह पैदा हो गये।

इस तरह के महत्वपूर्ण सम्मेलन से पहले, जो प्रत्यक्ष ही इस कारण से बुलाया गया कि आपसी बातचीत सम्भव और आवश्यक समझी गयी, ऐसी घोषणा करना जिसमें उसके प्रति आस्था की कमी दिखाई पड़ती है और जिसमें पाबन्दियों की धमकियों से भरे विकल्प रखे गये हैं, भारत सरकार अत्यन्त खेद

की बात समझती हैं और उससे बहुत चिन्तित है। अगर बातचीत से पहले दबाव, धमकियों, उपेक्षा और अनास्था की घोषणाएँ की जाएँ तो उनसे बातचीत में व्यवधान पड़ता है, वे ठीक तरह से शुरू नहीं हो पाती और उनमें यदि कोई प्रगति होती भी है तो बहुत रुक रुक कर।

एक और जिस बात से हमारा भ्रम बढ़ता है, वह है युद्ध की गति को बढ़ाना और हिन्द-चीन में युद्ध सामग्री की सप्लाई में वृद्धि करना यह बढ़ी सप्लाई स्पष्टतः वियत-मिन्ह की सहायता के लिए आयी है, जिससे कहा जाता है, उन्हें बड़े हमले करके ऐसी सैनिक विजय प्राप्त करने में सुविधा मिलती है जिससे आगामी सम्मेलन की बातचीत उनके पक्ष में हो। फ्रांसीसी वियत-नाम पक्ष के लिए अमरीकी सहायता बढ़ा दी गयी है तथा और अधिक सहायता देने के आश्वासन दिये गये हैं।

भारत में हम लोगों के लिए यह अत्यन्त चिन्ताजनक और गम्भीर बात है। इसका परिणाम एशियाई देशों की नव-अर्जित तथा वांछित स्वतंत्रता पर प्रभाव डालने वाला है।

एशियाई देशों की सम्पन्नता तथा विश्व-शांति के लिए यह आवश्यक है कि एशियाई देशों की स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता कायम रखी जाय और औपनिवेशिक तथा विदेशी शासन का अन्त हो।

एशिया में हम कोई विशेष स्थान नहीं चाहते और न हम किसी संकुचित तथा वर्गाधारित एशियाई प्रदेशवाद के पोषक हैं। हम केवल यही चाहते हैं कि हम तथा अन्य देश, विशेष रूप से हमारे पड़ोसी, शांतिपूर्ण क्षेत्र बनाये रहें और दुनिया के खिंचाव और युद्धों से अलग रहने तथा उनमें न बंधने की नीति पर कायम रहें। हमारा विश्वास है, यह स्वयं हमारे ही लिए आवश्यक है और केवल इसी से हम संसार के खिंचाव को कम करने, निरस्त्रीकरण को बढ़ाने और विश्व-शांति स्थापित करने में योगदान दे सकें।

वर्तमान घटनाएँ हमारी आशाओं पर पानी फेरती हैं; वे हमारी आधार भूत नीतियों को प्रभावित करती हैं और हमें इस या उस गुट में खींचना चाहती हैं।

हमारे लिए शांति एक उत्सुकतापूर्ण आशा मात्र नहीं है; यह एक अत्यन्त, आवश्यक चीज है।

हिन्द-चीन एक एशियाई देश है और निकटवर्ती क्षेत्र है। इस युद्ध से बहुत अधिक हानि उठाने पर भी वह हस्तक्षेपों से जकड़ा हुआ है और उसकी स्वतंत्रता संकट में है। अतएव, हिन्द-चीन का यह संकट हमारे लिए घोर चिन्ता का विषय है। इससे यह आवश्यक हो गया है कि हम इस मामले पर अच्छी तरह सोच-विचार करें युद्ध को बढ़ने और भीषण रूप ग्रहण करने से रोकने का प्रयत्न करें और निपटारे की संभावनाएँ बढ़ाएँ।

भारत सरकार को विश्वास है कि दृष्टिकोण में अन्तर, घोर शंकाएँ तथा विरोधी दावे होते हुए भी, जेनेवा में एकत्रित होने वाले महान् राजनीतिज्ञों तथा उनके देशों का उद्देश्य एक ही है और वह है—युद्ध को बढ़ने से रोकना। कुछ कठिनाइयों तथा गतिरोधों को दूर करने में सहायता देने तथा एक शान्तिपूर्ण निपटारा संभव करने की अपनी हार्दिक इच्छा से भारत सरकार ने निम्न सुझाव देने का साहस किया है—

(१) शान्तिपूर्ण तथा परस्पर बातचीत का वातावरण बढ़ाना है और शंका तथा धमकियों के वर्तमान वातावरण को दूर करना है। इस दिशा में भारत सरकार की सब सम्बद्ध देशों से अपील है कि वे धमकियां देना बन्द कर दें। युद्ध में भाग लेने वाले पक्षों से भी यह अपील है कि वे युद्ध के वेग को न बढ़ाएँ।

(२) युद्ध-विराम। युद्ध-विराम के लिए भारत सरकार के सुझाव ये हैं:

(क) हिन्द-चीन सम्मेलन की कार्य-सूची में 'युद्ध-विराम' विषय को प्राथमिकता दी जाय।

(ख) युद्ध में वास्तविक रूप से भाग लेने वाले पक्षों, अर्थात् फ्रांस तथा उसके तीनों साथी राज्यों और वियत-मिन्ह, का एक युद्ध-विराम समूह बनाया जाय।

(३) स्वतंत्रता—सम्मेलन को यह निश्चय करना चाहिए और यह घोषणा करनी चाहिये कि इस झगड़े को निपटाने के लिए यह आवश्यक है कि फ्रांस की सरकार हिन्द-चीन को पूर्ण स्वतन्त्र करने का वचन दे।

(४) सीधे बातचीत—सम्मेलन द्वारा मुख्य रूप से सम्बद्ध दलों में सीधे बातचीत शुरू करायी जाय। स्वयं कोई समझौता निकालने के बजाय, सम्मेलन को मुख्य रूप से सम्बद्ध दलों से आपस में बातचीत करने की प्रार्थना करनी चाहिए और इसके लिए सम्मेलन सभी प्रकार की सहायता दे। इस प्रकार की सीधी बातचीत से हिन्द चीन की समस्या को उन प्रश्नों तक सीमित रखने में सहायता मिलेगी जिनका हिन्द-चीन से सीधा सम्बन्ध है। ये दल वही होंगे जो युद्ध-स्थगन दल में होंगे।

(५) अहस्तक्षेप—सम्मेलन द्वारा अमरीका, रूस, ब्रिटेन, और चीन में यह करार कराया जाय कि ये देश परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सेना या युद्ध-सामग्री द्वारा युद्धरत दलों को सहायता न देंगे। संयुक्त राष्ट्रसंघ से यह प्रार्थना की जाय वह हिन्द-चीन में अहस्तक्षेप का एक अभिसमय (कनवेंशन) बनाये जिसमें उपर्युक्त करार और इसको कार्यान्वित करने की व्यवस्था भी शामिल हो। अन्य राष्ट्रों से भी संयुक्त राष्ट्रसंघ इस अभिसमय का पालन करने के लिए कहे।

(६) संयुक्त राष्ट्रसंघ—सम्मेलन की प्रगति की सूचना संयुक्त राष्ट्रसंघ को दी जाय। अभिसमय के उपयुक्त अनुच्छेद के अन्तर्गत, समझौते के लिए संयुक्त राष्ट्र का उपयोग किया जाय।

भारत सरकार, ये प्रस्ताव अत्यन्त नम्रता तथा इस इच्छा और आशा से प्रस्तुत करती है कि सम्मेलन और प्रत्येक सम्बद्ध पक्ष इन पर विचार करेगा। वह समझती है कि ये प्रस्ताव व्यवहारिक हैं और इन्हें तत्काल ही कार्यान्वित किया जा सकता है।

इसका विकल्प भीषण है। क्या हम सबके लिए, विशेषकर उनके लिए

जो आज संसार के कर्णधार हैं, परम पवित्र पोप के शब्दों में यह समझने का समय नहीं आ गया है कि "परस्पर भय के महँगे और उत्तेजनापूर्ण सम्बन्ध से शान्ति नहीं बनी रह सकती !"

(भारत सरकार के पत्र सूचना विभाग द्वारा प्रचारित विवरण)

परिशिष्ट—३

भारत और चीन के प्रधान मन्त्रियों का संयुक्त वक्तव्य

(२८ जून, १९५४)।

१—भारत के गणराज्य के प्रधान और परराष्ट्र मन्त्री महामान्य श्री जवाहरलाल के निमन्त्रण पर चीन के लोकराज्य के प्रधान और परराष्ट्र मन्त्री महामान्य चाउ एन-लाइ दिल्ली आए। वे यहाँ तीन दिन ठहरे। इस अवधि में दोनों प्रधान मन्त्रियों ने भारत और चीन से सम्बन्धित अनेक विषयों पर विचार-विमर्श किया। विशेषकर उन्होंने दक्षिण-पूर्व एशिया में शान्ति स्थापना की सम्भावनाओं और जनेवा सम्मेलन में हिन्द-चीन के सम्बन्ध में जो प्रगति हुई, उस पर बात-चीत की। हिन्द-चीन की स्थिति का एशिया और विश्व की शान्ति के लिये बहुत अधिक महत्त्व है और दोनों प्रधान मन्त्री इस बात के इच्छुक हैं कि जनेवा में जो प्रयत्न हो रहे हैं, वे सफल हों। उन दोनों को इस पर संतोष है कि युद्ध-विराम के विषय में जनेवा में बातचीत में प्रगति हुई है। उनकी हार्दिक कामना है कि निकट भविष्य में ही ये प्रयत्न सफल हों और परिणाम स्वरूप इस क्षेत्र की राजनीतिक समस्याएँ सुलझ जायें।

२—दोनों प्रधान मन्त्रियों की बातचीत का उद्देश्य है कि जनेवा तथा अन्यत्र शान्ति स्थापना के लिए जो प्रयत्न हो रहे हैं उनको जिस प्रकार हो मदद पहुँचावें। उनका मुख्य उद्देश्य है कि वे एक दूसरे के दृष्टिकोण को

अच्छी तरह समझ लें ताकि आपस में मिल कर तथा अन्य देशों के सहयोग से वे शान्ति की रक्षा में सहायक हो सकें।

३—हाल ही में भारत और चीन में एक समझौता हुआ है जिसमें उन्होंने दोनों देशों के बीच में किस प्रकार के सम्बन्ध रहें इसके लिए कुछ सिद्धांत स्थिर किये हैं। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

(१) एक दूसरे की प्रभुता का ख्याल रखना और उनके राज्यों की सीमाओं का अतिक्रमण न करना।

(२) एक दूसरे के प्रति कोई शत्रुतापूर्ण कार्य न करना।

(३) एक दूसरे के अन्दरूनी मामलों में कोई दखल न देना।

(४) एक दूसरे के हितों का ध्यान रखना और बराबरी का भाव रखना, और

(५) शान्ति और सहयोग से मिलकर रहना।

दोनों प्रधान मंत्रियों ने इन सिद्धान्तों की पुष्टि की और निश्चय किया कि एशिया के और संसार के अन्य देशों से सम्बन्ध रखने में भी इन्हीं सिद्धान्तों को लागू किया जाय। यदि यह सिद्धान्त विभिन्न देशों के आपसी व्यवहार में ही नहीं वरन् साधारण रूप में अन्तर-राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी लागू किये जायँ तो ये शान्ति और सुरक्षा के लिए ठोस आधार बन सकेंगे और आज जो भय और आशंकाएँ फैली हुई हैं, वे भी दूर हो जायेंगी और सब में भरोसा पैदा हो सकेगा।

४—प्रधान मन्त्रियों ने इस बात को स्वीकार किया कि एशिया तथा संसार के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाएँ विद्यमान हैं। परन्तु यदि उपर्युक्त सिद्धान्त स्वीकार किये जायँ और उन पर आचरण किया जाय और कोई देश दूसरे के मामलों में दखल न दे तो इन भिन्नताओं से शान्ति के मार्ग में कोई बाधा नहीं पड़ सकती और न कोई झगड़े पैदा हो सकते हैं। यदि प्रत्येक देश को यह भरोसा हो जाय कि उस पर कोई आक्रमण न करेगा और उसकी प्रभुता तथा राज्य की सीमाएँ सुरक्षित रहेंगी तो विभिन्न देशों के बीच में

मित्रता और सहयोग रह सकता है। इससे संसार में जो तनातनी है वह कम हो जायगी और शान्ति के लिए वातावरण बन सकेगा।

५—विशेषकर प्रधान मन्त्रियों को आशा है कि ये सिद्धान्त हिन्द-चीन की समस्या को हल करने में लागू किये जायँगे। हिन्द-चीन में जो राजनीतिक समझौता हो उसका उद्देश्य ऐसे स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना होनी चाहिये जिनमें एकता और लोकतन्त्र हो और जिनका उपयोग किसी आक्रमणकारी उद्देश्य के लिए न हो और जिनमें कोई विदेशी शक्ति दखल न दे सके। इससे इन देशों में आत्म-विश्वास पैदा होगा और उनमें तथा उनके पड़ोसियों के बीच मित्रता कायम हो सकेगी। उपर्युक्त सिद्धान्तों को मानने से एक शान्ति का क्षेत्र स्थापित हो सकेगा जिसका परिस्थितियों के अनुसार विस्तार किया जा सकेगा और इस प्रकार युद्ध की सम्भावनाओं को घटाया जा सकेगा और सारे संसार में शांति के पक्ष को मजबूत किया सा सकेगा।

६—प्रधान मन्त्रियों ने चीन और भारत की मित्रता में अपना विश्वास प्रकट किया जिससे विश्व शान्ति में सहायता मिलेगी और इन दोनों देशों तथा एशिया के अन्य देशों के शांतिमय विकास में भी मदद मिलेगी।

७—इस बातचीत का उद्देश्य एशिया की समस्याओं को और अच्छी तरह समझना और दुनिया के अन्य देशों के साथ मिल कर इनको और इन प्रकार की अन्य समस्याओं को सुलझाना तथा इसके लिये शांति और सहयोग से मिल कर काम करना है।

८—दोनों प्रधान मंत्री सहमत हैं कि उनके दोनों देशों में निकट संपर्क रहे ताकि दोनों में पूरा समझौता बना रहे। उन्हें आपस में मिलने का और खुलकर विचार-विनिमय करने का जो मौका मिला उसे वे बहुत मूल्यवान् समझते हैं जिससे वे एक दूसरे को अच्छी तरह समझ सकें और शान्ति के प्रयत्न मिलकर कर सकेंगे।

परिशिष्ट—४

TEXT OF S.E.A.T.O. TREATY

The following is the text of the treaty signed at the end of the eight-nation (America, Britain, France, New Zealand, Australia, Pakistan, Philippines, Thailand) conference SEATO held at Manila on Sept. 8, 1954.

"The parties to this treaty recognize the sovereign equality of all the parties, retain their faith in the purposes and principles set forth in the Charter of the U. N. and their desire to live in peace with all people and all Governments.

"Reaffirming that in accordance with the Charter of the U.N. they uphold the principle of equality of rights and self-determination of peoples and declaring that they will earnestly strive by every peaceful means to promote self-government and to secure the independence of all countries whose people desire and are able to undertake the responsiblities.

"Intending to declare publicly and formally their sense of unity so that any potential aggressor will appreciate that the parties stand together in the area and desiring further to co-ordinate their efforts for collective defence for the preservation of peace and security, therefore agree as follows:

PEACEFUL MEANS

"**Article 1:** The parties undertake as set forth in the Charter of the U.N. to settle any international dispute in which they may be involved by peaceful means in such a manner that international peace and security and justice are not endangered and to refrain in their international relations from the threat or use of force in any manner inconsistent with the purpose of the U.N.

"**Article 2:** In order more effectively to achieve the objectives of this treaty the parties, separately and jointly by means of continuous and effective self-help and mutual aid will maintain and develop individual and collective capacity to resist armed attack and to prevent and counter subversive acts from without against their territorial integrity and political stablity.

"**Article 3:** The parties undertake to strengthen their free institutions and to co-operate with one another in the future development measures including technical assistance designed both to promote economic progress and social well-being and to further the individual and collective efforts of Governments towards these ends.

COMMON ACTION

"**Article 4:** (a) Each party recognizes that aggression by means of armed attack in the treaty area against any of the parties or against any State or territory which the parties by unanimous agreement may hereafter designate would endanger its own peace and safety and agrees that it will in that event act to meet the common danger in accordance with its constitutional processes. Measures taken under this paragraph shall be immediately reported to the Security Council of the U. N.

"(b) If in the opinion of any of the parties the inviolability or the integrity of the territory of the sovereignty or political independence of any party in the treaty area or of any other State or territory to which the provisions of paragraph one of this article from time to time apply is threatened in any way other than by armed attack or is affected or threatened by any fact or situation which might endanger the peace of the area, the parties shall consult immediately in order to agree on the measures which should be taken for the common defence.

"(c) It is understood that no action on the territory of any State designated by unanimous agreement under paragraph one of this article or on any territory so designated shall be taken except at the invitation or with the consent of the Government concerned,

NEW COUNCIL

"**Article 5:** The parties hereby establish a council on which each of them shall be represented to consider matters concerning the implementation of this treaty. The council shall provide for consultation with regard to military and any other planning as the situation obtaining in the treaty area may from time to time require. The council shall be so organized as to be able to meet at any time.

"**Article 6:** This treaty does not affect and shall not be interpreted as affecting in any way the rights and obligations of any of the parties under the Charter of the U. N. or the responsibility of the U. N. for the maintenance of international peace and security. Each party declares that none of the international engagements now in force between it and any other of the parties or any third party is in conflict with the provisions of this treaty and undertakes not to enter into any international engagement in conflict with this treaty.

"**Article 7:** Any other State in a position to further the objectives of this treaty and contribute to the security of the area may by unanimous agreement of the parties be invited to accede to this treaty. Any State so invited may become a party to the treaty by depositing its Instrument of Accession with the Government of the Republic of the Philippines. The Government of the Republic of the Philippines shall inform each of the parties of the deposit of each such Instrument of Accession.

TREATY AREA

"**Article 8:** As used in this treaty, the treaty area is the general area of South-East Asia including also the entire territories of the Asian parties and the general area of the South-East Pacific not including the Pacific area-north of 21 degrees 30 minutes north latitude. The parties may by unanimous agreement amend this article to include the territory of any State acceding to this treaty in accordance with Article Seven or otherwise to change the treaty area.

"**Article 9** (a): This treaty shall be deposited in the archives of the Government of the Republic of the Philippines. Duly certified copies thereof shall be transmitted by that Government to the other signatories.

(b) The treaty shall be ratified and its provisions carried out by the parties in accordance with their respective constitutional processes. The instruments of ratification shall be deposited as soon as possible with the Government of the Republic of the Philippines which shall notify all the other signatories of such deposit.

(c) The treaty shall enter into force between the States which have ratified it as soon as the instruments of ratification of a majority of signatories shall have been deposited and shall come into effect with respect to each other State on the date of the deposit of its instruments of ratification.

"**Article 10:** This treaty shall remain in force indefinitely but any party may cease to be a party one year after its notice of denunciation has been given to the Government of the Republic of the Philippines which shall inform the Governments of the other parties of the deposit of each notice of denunciation.

"**Article 11:** The English text of this treaty is binding on the parties but when the parties have agreed to the French text thereof and have so notified the Government of the Republic of the Philippines the French text shall be equally authentic and binding on the parties."

U. S. DECLARATION

To the treaty text was added the following understanding of the U.S.A. ;

This reads: "The delegation of the U.S.A. in signing the present treaty does so with the understanding that its recognition of the effect of aggression and armed attack and its agreement with reference thereto in Article Four, Paragraph One, applies only to Communist aggression, but affirms that in the event of other aggression or armed attack, it will consult under the provisions of Article Four."

A protocol to the treaty states:—

"Designations of States and territory as to which provisions of Article Four and Article Three are to be applicable.

The parties to the South-East Asia collective defence treaty unanimously designate for the purposes of Article Four of the treaty the States of Cambodia and Laos and the free territory under the jurisdiction of the State of Viet-Nam.

"The parties further agree that the above mentioned States and territory shall be eligible in respect of the economic measures contemplated by Article Three.

"This protocol shall come into force simultaneously with the coming into force of the treaty."

PACIFIC CHARTER TEXT

The eight nations represented at the South-East Asian defence talks to-day issued a declaration of principles involved calling it the Pacific Charter. The following is the text of the Charter.

"The delegates, desiring to establish a firm basis for common action to maintain peace and security in South-East Asia and the South-West Pacific:

"Convinced that common action to this end, in order to be worthy and effective, must be inspired by the highest principles of justice and liberty do hereby proclaim.

"(1) In accordance with the provisions of the U.N. Charter they uphold the principle of equal rights and self-determination of peoples and they will earnestly strive by every peaceful means to promote self-government and to secure the independence of all countries whose peoples desire it and are able to undertake its responsibilities.

"(2) They are each prepared to continue taking effective practical measures to ensure conditions favourable to the orderly achievement of the foregoing purposes in accordance with their constitutional procedures.

"(3) They will continue to co-operate in the economic, social and cultural fields in order to promote higher living standards, economic progress and social well-being in this region.

"(4) As decreed in the South-East Asian collective defence treaty they are determined to prevent or counter by appropriate means any attempt in the treaty area to subvert freedom or to destroy their sovereignty or territorial integrity."

[अंग्रेजी दैनिक 'स्टेट्समैन' दिल्ली संस्करण के १० सितम्बर, १९५४ के अंक से उद्धरित ।]